॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

राधामुकुन्दयुगलं तदहं नमामि

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अगस्त १९८४

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.०० रु० विदेशमें १० पेंस

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य भारतमें २४.०० रु० विदेशमें ५२.०० रु० (३ पौण्ड ५० पेंस)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

नटखट नटवर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
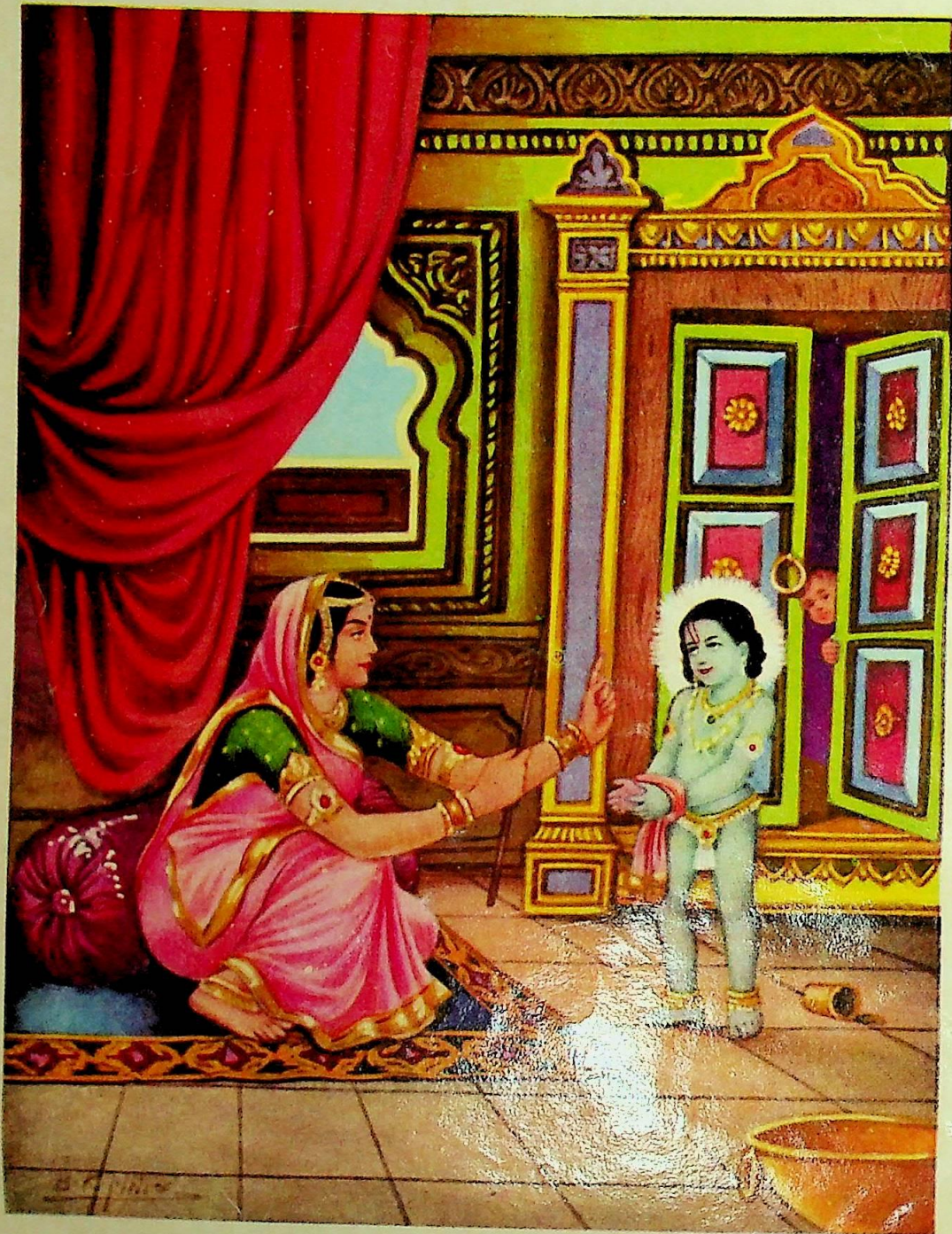
कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, अगस्त १९८४ ई० { संख्या ८ पूर्ण संख्या ६९३

माताके अनुशासनपर मनुहार

जसुदा देखि सुतकी ओर ।
बाल बेस रसाल पर, रिस इती कहा कठोर ॥
बार बार निहारि तव तन, नमित-मुख दधि-चोर ।
तरनि किरनहिं परसि मानो, कुमुद सकुचत भोर ॥
त्रास तैं अति-चपल गोलक, सजल सोभित छोर ।
मीन मानो बेधि बंसी, करत जल झकझोर ॥
देत छबि अति गिरत उर पर अंबु-कनके जोर ।
ललित हिय जनु मुक्त-माला, गिरति टूटें डोर ॥
नंद-नंदन जगत-बंदन करत आँसू कोर ।
दास सूरज मोहि सुख-हित निरखि नंदकिसोर ॥

कल्याण

सबके साथ सहानुभूति और नम्रतासे युक्त मित्रताका बर्ताव करो। संसारमें अधिक मनुष्य ऐसे ही मिलेंगे, जिनकी कठिनाइयाँ, जिनके कष्ट तुम्हारी कल्पनासे कहीं अधिक हैं। तुम इस बातको समझ लो और किसीके साथ भी अनादर और द्वेषका व्यवहार न करके विशेष प्रेमका व्यवहार करो।

तुमसे कोई बुरा बर्ताव करे तो उसके साथ भी अच्छा बर्ताव करो और ऐसा करके अभिमान न करो। दूसरेकी भलाईमें तुम जितना ही अपने अहंकार और जागतिक स्वार्थको भूलोगे, उतना ही अधिक तुम्हारा वास्तविक हित होगा।

यह बात याद रखनेकी है कि भगवान्‌के राज्यमें भलाईका फल बुराई कभी हो नहीं सकता। इसी तरह बुराईका फल भलाई नहीं होता। तुम्हारे साथ यदि कोई बुरा बर्ताव करता है और तुम भी यदि उसके साथ वैसा ही बर्ताव करोगे तो इससे यही सिद्ध होगा कि तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा दोष भरा है, जो यह चाहता है कि लोग तुमसे द्वेष करें और तुमको सतायें।

ऐसा न होता तो तुम अच्छा बर्ताव करते और उसके बदलेमें भगवान्‌के न्यायसे अब नहीं तो कुछ दिनों बाद तुम्हें अच्छा बर्ताव मिलता ही। अच्छे बर्तावके फलस्वरूप आपके हृदयमें अच्छाईका भरना तो अनिवार्य ही है।

अच्छा बर्ताव—निश्छल प्रेमका व्यवहार करके सबमें भलाईका—प्रेमका वितरण करो। यही सच्ची सहायता और सच्चा आश्वासन है। आप जैसा व्यवहार करेंगे, वैसा ही जगत्‌को देंगे और वैसा ही आप पायेंगे भी।

सभीको प्रेमभरी मधुरता और सहानुभूतिभरी आँखोंसे देखें। सुखी जीवनके लिये प्रेम ही असली खूराक है। संसार इसीकी भूखसे मर रहा है। अतएव प्रेम-वितरण करो—अपने हृदयके प्रेमको हृदयमें ही मत छिपा रक्खो; उसे उदारताके साथ बाँटो। इससे जगत्‌का बहुत-सा दुःख दूर हो जायगा।

जिसके बर्तावमें प्रेमयुक्त सहानुभूति नहीं है, वह मनुष्य जगत्‌में भाररूप है और जिसके हृदयमें स्वार्थ-युक्त द्वेष है, वह तो जगत्‌के लिये अभिशापरूप है। हृदयमें विशुद्ध प्रेमको जगाओ, उसे बढ़ाओ और सब ओर उसका प्रवाह बहा दो। तुमको अलौकिक सुख-शान्ति मिलेगी और तुम्हारे निमित्तसे जगत्‌में भी सुख-शान्तिका प्रवाह बहने लगेगा। वस्तुतः प्रेम ईश्वरका स्वरूप है।

आप जो कुछ बोयेंगे, वही अनन्तगुना होकर वापस मिलेगा। बीजके अनुसार ही फल होते हैं। भलाईके बीज बोनेसे भलाईके फलोंसे तमाम खेत हरा-भरा हो जायगा। वह आपको भी मिलेगा और जगत् भी उसे पाकर संतुष्ट होगा। द्वेष और वैरसे मनुष्य जैसे जगत्‌को नरक बना देता है, वैसे ही सहानुभूति और प्रेमसे उसे स्वर्गसे भी बढ़कर बना सकता है।

जो केवल अपना ही स्वार्थ देखते हैं और जिनका 'अपना' बहुत ही सीमित होता है, वे बड़े संकुचित मनवाले होते हैं और उनसे भला व्यवहार नहीं हो पाता। जिनका 'अपना' विस्तृत हो गया है, जो सारे जगत्‌में 'अपनेपन' का अनुभव करते हैं, वे गंदे स्वार्थके वशमें होकर जगत्‌का अहित नहीं कर सकते। उनका स्वार्थ ही परमार्थ होता है।

मनुष्यमें ज्यों-ज्यों प्रेमका विस्तार होता है, त्यों-ही-त्यों उसके 'स्व' का दायरा भी बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते वह सारे विश्वमें छा जाता है। फिर विश्व-कल्याणमें ही उसे अपना 'कल्याण' दीखता है। यही प्रेमका शुद्ध रूप है।

'शिव'

*

बाह्य एवं आन्तरिक त्यागका तात्पर्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

यह बाहर एवं भीतरके कर्मोंका त्याग तो साधुओंके लिये बतलाया गया है। यह इसलिये कि उनको दोनोंका त्यागकर कैसा बनना चाहिये।

साधुको नेत्रोंसे अंधेकी तरह, कानोंसे बहरेकी, हाथोंसे लूले (टूटे हुए हाथवाले) की तरह, पैरोंसे लँगड़ेकी तरह वाणीसे गूँगेकी तरह होना चाहिये। इससे आरम्भों (कर्मों)का त्याग करनेकी बात कही गयी है। उपर्युक्त आचरणसे कर्मोंका त्याग होता है।

श्रीजड़भरतजी महाराजके लक्षण और आचरण ऐसे ही थे। वे अपने पूर्वजन्मकी बातें जानते थे। वे अपने गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी और बहुत परिश्रम करते हुए भी साधुकी भाँति उन सब कर्मोंसे वस्तुतः इतने उपरत थे कि जड़की तरह रहते थे इसलिये उनका नाम 'जड़भरत' कहा जाता है। उनके सब आचरण जड़की तरह होते थे। घरवालोंने जड़भरतको विद्या पढ़ानेकी कोशिश की। उनसे कहा जाता बोलो—'क ख ग घ ङ' तो उनके कहनेसे वे भी बोल देते 'क ख ग घ ङ'। दूसरे दिन पढ़ायीका क्रम आगे बढ़ानेकी बात होती तब पूछा जाता कि कल क्या सीखा? तो जड़भरत चुप हो जाते थे। पूछा जाता कि क्या कलका पाठ सब भूल गये? तो वे चुप हो जाते थे। फिर दूसरी बार पढ़ाते—क ख ग घ ङ। इस प्रकार और थोड़ा आगे पढ़ानेपर जब पिछला पाठ पूछा जाता तब भी चुप, सब सफाचट। घरवालोंने समझ लिया कि इतना अधिक परिश्रम करनेके बाद भी जब यह वर्णमालाके पूरे अक्षर नहीं सीख सका तब यह क्या पढ़ेगा? घरवालोंने तंग आकर जड़भरतको पढ़ानेकी नीयत ही छोड़ दी। अब घरवालोंने सोचा कि यह पढ़ायी तो कुछ करेगा ही नहीं, इससे खेतीका काम तो करवाना चाहिये। उनको खेतके काममें लगाये रहनेके लिये घरवालोंने निश्चय किया और उन्हें आदेश दिया। तब जड़भरतजी खेतमें ही बैठे रहते। उनको तो किसी प्रकारसे संसारसे सम्बन्ध जोड़ना नहीं था। क्योंकि वे 'जड़भरत' थे! फिर घरवालोंने कहा—अगर तुमसे और कुछ नहीं हो सकता तो खेतमें बैठा रहा करो और वहाँ अपने खेतमें जो गाय, भैंस आदि पशु चरनेके लिये आवें उन्हें लाठी लेकर अपने खेतमेंसे निकाल कर किसी दूसरेके खेतमें खदेड़ दिया करो। सड़कके इस पार जड़भरतका खेत था और उसकी ओटमें दूसरोंका खेत है। पशु आदि चरनेके लिये आते तो जड़भरत उनको दूसरेके खेतमें नहीं खदेड़कर अपने ही खेतकी तरफ खदेड़ दिया करते थे। जब दूसरे दिन घरवालोंने जाकर देखा कि खेतमें बहुत-सी गाय-भैंसें इकट्ठी हैं और खेतको साफ कर रही हैं तो उन्होंने जड़भरतसे कहा कि तुमको कहा गया था कि इन पशुओंको दूसरेके खेतमें खदेड़ दिया करना तो इन पशुओंको अपने खेतमें क्यों घुसा रक्खा है? जड़भरतने कहा—आपने कहा था कि हाथमें यह लाठी रखो और पशुओंको खदेड़ दिया करो; मैंने पशुओंको खदेड़ दिया। तब घरवालोंने कहा कि मूर्ख! यह तो अपना खेत है, दूसरेके खेतमें खदेड़नेके लिये कहा गया था न? यह सुनकर जड़भरत हँसने लगते थे। वे समझते थे कि यह अपना और दूसरेका क्या होता है? घरवालोंने जड़भरतसे कहा—'मूर्ख! तुमको इतना भी ज्ञान नहीं कि यह अपना खेत है और यह दूसरेका यानी पराया है।' पर जड़भरतको तो इस प्रकारके (अपने और परायेके) ज्ञानमें ही

खराबी दीखती थी । किंतु घरवालोंने जड़भरतजीसे खेतका काम भी छुड़ा दिया । घरवालोंने जड़भरतको आदेश दिया कि तुम खेतमें क्यारी बनाओ । जड़भरतने पूछा—'यह क्या ?' घरवालोंने कहा—'मूर्ख, क्यारी भी नहीं समझते । यह सामने जो ऊँची जगह है उसको फावड़ासे खोदकर वहाँकी मिट्टी गड्ढेमें डालो, इस तरह भूमिको समतल करके फिर मेड़ लगाकर क्यारी बनाओ।' जड़भरतने देखा कि ये क्या बोलते हैं ? तब घरवालोंने यह जानकर कि मूर्ख समझा नहीं, दो-चार परात मिट्टी उठाकर उसकी क्यारी बनानेको बतलाया कि इस प्रकार क्यारी बनती है । घरवाले जड़भरतको क्यारी बनानेकी शिक्षा देकर चले गये । पीछेसे जड़भरतने एक जगहसे मिट्टी खोदकर दूसरी जगह क्यारी नहीं बनाकर उसको ही खूब ऊँचा कर दिया; उल्टा काम बढ़ा दिया । घरवाले खेतमें दूसरे दिन आये और जड़भरतका काम देखा । बोले—'रे मूर्ख! तुमने यह क्या कर दिया ? मूर्ख ! तुमको तो क्यारी बनानेके लिये कहा गया था । क्या इस प्रकारसे क्यारी बनती है ? जब इस जगहपर मिट्टी पड़नेके बाद यह समतल हो चुकी है तब तुमको मिट्टी डालनेका काम बन्द कर देना चाहिये था। यह इतना ढेर इस जगह बनाकर तुमने तो दूना काम बढ़ा दिया । इसको अब समतल—बराबर कौन करेगा ? समझता नहीं मूर्ख कहींका! अब इसको समझाये कौन ? किसीकी बात यह समझता हो तो वह समझाये, पर इसे तो समझना ही नहीं है । आखिर घरवालोंने तंग आकर कहा—'तुम किसी भी प्रकारका काम करनेके लायक नहीं हो, बस, कोई भी काम मत किया करो । केवल बैठे रहा करो ।' जड़भरतने कहा—'बहुत ठीक ।' वे खेतमें बैठे रहा करते ! और उनको चाहिये ही क्या था, वे परमात्माका खूब ध्यान करते और ध्यानमें मग्न रहा करते । आठ पहरोंमेंसे कभी एक पहर घरमें आ जाया करते और घरवाले उनको भोजन करा दिया करते थे । एक दिनकी बात है कि जड़भरतजीको ध्यान करते-करते कुछ बिलम्ब हो गया और घरपर वे देरीसे पहुँचे । भोजनके लिये उनकी भाभीने देखा कि यह जड़भरत मुस्टंड—मोटा-तगड़ा सामने खड़ा है । जड़भरतजीके देर करनेपर उनकी भाभीजीने उनके भोजनका ख्याल छोड़ दिया था; किंतु जब देखा कि वे सामने खड़े हैं, तब बचा हुआ भोजन जिसे उसने अपने खानेके लिये रख छोड़ा था और जिसको जूठा कहा जाता है, लाकर जड़भरतजीकी थालीमें उसमेंसे आधा परोसा दिया और जड़भरतने खूब प्रेमसे प्रसाद पा लिया । उनकी भाभी भी मन-ही-मन सोचने लगी कि यह भी कोई पशु ही है जो इस प्रकारका (बचा हुआ जूठा) भोजन भी नहीं छोड़ता है ! पर यह एक विचित्र बात हुई कि जड़भरतजीके भोजन कर लेनेके बादमें जो थोड़ा भोजन बच गया था उसमें अमृतके समान खूब सुगंध आने लगी ! जड़भरतका भाई जब घर आया तो उसको भी वह सुगंध मालूम होने लगी । उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि क्या बात है ? आज यह सुगन्ध कैसी आ रही है ! उसकी स्त्रीने कहा कि यह चावलोंमेंसे ही सुगन्ध आ रही है । तब उसने भी वे चावल खाकर बोले—सचमुच ये बड़े स्वादिष्ट हैं, अमृतके समान लगते हैं । ऐसे चावल तो मैंने कभी नहीं खाये थे । उससे पूछा चावल किसने बनाये थे । स्त्रीने कहा—'चावल मैंने ही बनाये थे ।' उन्होंने कहा—'चावल आज बहुत ही स्वादिष्ट बने हैं, ऐसे ही स्वादिष्ट चावल रोज बनाया करो ।' स्त्रीने सोचा, 'क्या हरज है । मैं तो इस प्रकारके बनानेकी विधि सीख ही गयी हूँ । इस प्रकारके चावल बनानेमें क्या भेद है ? उसने दूसरे दिन सब चावलको गाय-बैल आदिके लिये दाना उबाला गया था, जो उस बटलोही (बटुले) में डाल दिया । आधे घंटेके बाद सीझनेपर वह चावल थालीमें परोस अपने पतिके खानेके लिये लायी । पतिने चावल खानेके

साथ ही कहा—'ये चावल क्या बनाये हैं, इसमें तो बाँटेकी-सी दुर्गन्ध आती है। इनमें तो किसी प्रकारका स्वाद ही नहीं है। जैसे चावल रोज बनते हैं उनसे भी खराब बना है। कलका-जैसा स्वाद तो है ही कहाँ ? उसकी स्त्रीने जवाब दिया—'मैंने तो ये चावल कल-जैसे बनाये थे वैसे ही आज भी बनाये हैं। न मालूम कल तो स्वादिष्ट बन गये, आज स्वादिष्ट क्यों नहीं बने। उसको क्या मालूम कि इन चावलोंको स्वादिष्ट बनानेवाला कौन है? क्योंकि जिनका यह प्रभाव था (कि चावलमें सुगन्ध आ गयी थी) उनमें उसकी श्रद्धा तो थी नहीं। अपना यह प्रभाव जड़भरतजी ममता-अहंतारहित होकर विचरण किया करते थे।

साधुको नेत्रोंसे अंधेकी तरह व्यवहार करनेका क्या प्रयोजन? जब रातमें चले, तब नेत्रोंसे थोड़ी दूरतकका रास्ता केवल देख लेना चाहिये और फिजूल इधर-उधर नहीं देखना चाहिये। नेत्रोंसे केवल महापुरुषोंके एवं मन्दिरोंमें जाकर देवता आदिके दर्शन तथा सत्-शास्त्रोंका ही अध्ययन करना चाहिये। इसके सिवा नेत्रोंको अन्य व्यर्थ सांसारिक विषयोंको देखनेमें नहीं लगाना चाहिये।

साधुको कानोंसे बहरेकी तरह रहना चाहिये, इसका क्या प्रयोजन है? कानोंसे केवल मात्र परमात्मा-विषयक बातोंको ही श्रवण करना चाहिये और दूसरी संसार-विषयक बातें सुने ही नहीं, चाहे कोई कुछ भी कहा करे। यही बहरेकी तरह रहनेका प्रयोजन है। हाथोंसे लूलेकी तरह व्यवहार करना चाहिये, इसका क्या प्रयोजन है? हाथोंको केवल परोपकार एवं भगवान्‌की सेवा करनेके सिवा और अन्य प्रकारके परिश्रममें नहीं लगावे। यह प्रयोजन है।

पैरोंसे लँगड़ेकी तरह व्यवहार करनेका प्रयोजन क्या है? पैरोंसे बेकार परिश्रम नहीं करे। केवल महापुरुष, तीर्थ, देव-मन्दिरों दर्शनादिके करनेके लिये ही पैरोंका उपयोग करना चाहिये।

वाणीसे गूँगेकी तरह व्यवहार करनेका क्या प्रयोजन है?

वाणीसे केवल भगवद्-विषयक वार्ता ही करनी चाहिये। उसके सिवा दूसरी बातें करनी ही नहीं चाहिये। यही गूँगेकी तरह व्यवहारका तात्पर्य है।

पूर्व समयमें साधु-महात्माओं, संन्यासियोंके लिये इस प्रकारकी शिक्षा बतायी जाती थी। प्रश्न होता है कि अगर इस प्रकारसे सब कर्मोंको केवल भगवान्‌के ही निमित्त किया जाय तो फिर मनुष्यको भोजन कहाँसे मिले, शरीर-निर्वाह किस तरह हो?

उत्तरमें बतलाया गया है कि साधुको अजगर-वृत्तिसे ही काम चलाना चाहिये। जिस प्रकारसे अजगरको अपने स्थानपर ही जो कुछ मिल जाता है उसीसे वह काम चलाता है, इसी प्रकार साधु-संन्यासियोंको भी अपने स्थानपर जो कुछ मिल जाय उसीसे काम चला लेना चाहिये। फिर पूछा जाता है कि इस प्रकार अगर अपने स्थानपर भोजन प्राप्त न हो सके तो फिर किस प्रकारसे निर्वाह करे।

सोचना चाहिये कि भोजन कैसे मिलेगा, यह चिन्ता तो आपको अब लगी है, पहले तो नहीं थी न! जब आप अपनी माताके पेटमें थे, उस समय क्या आपको पेटकी यह चिन्ता थी? उस समय आपके पास भोजन कौन पहुँचाता था? और जब आप पैदा हुए थे तब आपकी माताके स्तनोंमें भी दूधका इन्तजाम क्या आपने ही किया था? आपने अगर यह सब इन्तजाम कभी नहीं किया है तो जिसने यह सब इन्तजाम किया था, अब भी आपको उसीके ऊपर भरोसा रखना चाहिये; क्योंकि उसका नाम 'विश्वम्भर'

हैं। आप जरा विचार करके देखें कि जितने जलचर, थलचर एवं पशु-पक्षी, कीट-पतंग हैं, उनके भी क्या किसी प्रकारकी खेती, दुकान, व्यवसाय, दलाली या अन्य किसी प्रकारका रोजगार है? ये भी जीवित रहते हैं या नहीं? यदि हैं, तो आपको भी अपने जीवनको प्रारब्धके अधीन छोड़ देना चाहिये। भगवान् 'विश्वम्भर' सबके पालक-पोषक स्वयं हैं। उसकी किसी प्रकार भी चिन्ता करनी ही नहीं चाहिये।

अब भीतरका त्याग क्या होता है यह भी बतलाया जाता है।

अहंकार-ममता यानी मैं-मेरेका भाव आसक्ति, राग-द्वेष, अज्ञान, भय, कामना—यही भीतरका कूड़ा-करकट है। इन सबकी सफाई करनी चाहिये। इनको अन्तः-करणसे बाहर निकाल देना चाहिये। जो साधु-संन्यासी बाहर एवं भीतरका त्याग करता है, वही असली त्यागी है। यह बाहर एवं भीतरका त्याग साधु-संन्यासियोंके लिये ही बतलाया गया है, गृहस्थाश्रमवालोंके लिये नहीं। गृहस्थाश्रमवालोंके लिये भीतरकी सफाईकी बात बतलायी गयी है वह सभी वर्णाश्रमोंके लिये आवश्यक है, लेकिन जो बाहरी त्यागकी बात यानी बहरा, काना, गूँगा, लूला, लंगड़ाकी तरह बन जानेकी बात ऊपर बतलायी गयी है, वह केवल साधु-संन्यासियोंके लिये है। गृहस्थाश्रममें भीतरका त्याग होना चाहिये। भीतरका त्याग करना उच्चकोटिकी चीज है। अगर बाहरका ऊपरी त्याग है और भीतरका त्याग नहीं है तो उसकी कोई महिमा नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें बतलाया है कि—

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३। ४)

'केवल मात्र बाहरी कर्मोंके त्याग करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता।' लेकिन भीतरका त्याग करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता—इस प्रकारकी बात गीतामें कहीं भी पढ़नेको नहीं मिलती।

इस प्रकार जड़भरतका प्रकरण आनेपर उसकी कथा संक्षेपमें बतलायी गयी और फिर साधु-संन्यासियोंको प्रकरण आनेपर उनके त्यागकी बात यानी बाहर और भीतरके त्यागकी बातें बतलायी गयीं है। जो साधु-संन्यासियों तथा गृहस्थोंके लिये यथायोग्य पालनीय हैं।

जीवन और विवेक

किसी भी वाहनका संचालन-भार यदि सुयोग्य संचालकके हाथों सौंपा जायगा, तभी वह वाहन निश्चित मंजिल-पर पहुँच सकता है और सभी दुर्घटनाओंसे बच सकता है।

चालक यदि सुयोग्य न हो तो वाहन निश्चित लक्ष्यसे भटककर दूसरी दिशामें चला जायगा और मंजिलकी दूरी कम होनेके बजाय बढ़ जायेगी।

ड्राइवर यदि सुयोग्य न हो तो कभी भी, कहीं भी भयंकर दुर्घटना घट सकती है और वाहनका नाश हो सकता है।

जीवनकी गाड़ीका संचालन भी सुयोग्य ड्राइवरके हाथोंमें सौंपना चाहिये। यह सुयोग्य ड्राइवर विवेक ही है।

जीवनकी गाड़ीका संचालन यदि विवेकके हाथमें सौंपा गया तो कभी दुर्घटना न होगी, कभी जीवनके लक्ष्यके विपरीत प्रयाण न होगा और जीवनके अन्तिम ध्येय—शान्तिके पास अवश्य पहुँचा जा सकेगा।

मानव-देहमें बैठी हुई आत्मा यदि विवेकपूर्ण व्यवहार करे तो स्वयं शान्ति प्राप्त करेगी ही, साथ-ही-साथ दूसरे अनेक व्यक्तियोंको सुख-शान्ति पहुँचा सकेगी। मानव-देहमें बैठी हुई आत्मा विवेकसे व्यवहार करे तो स्वयं नरसे नारायण बन सकती है और दूसरोंको बना सकती है। इसलिये जीवनका महत्त्व कम नहीं है। विवेकरहित जीवनका अर्थ है, चालकहीन वाहन।

भागवत-धर्म

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क ७ पृष्ठ-सं० ६७२ से आगे]

भागवत-धर्मका स्वरूप-वैलक्षण्य

श्रौत-स्मार्त आदि धर्मोंमें यज्ञ-यागादिरूप विशेष कर्म करने पड़ते हैं। अधिकार-विचारके साथ ही कर्मके सम्बन्धमें विधि-विधान होते हैं। विविध कर्मोंकी विविध विधाएँ होती हैं। उनमें थोड़ी-सी भी भूल हो जाय तो प्रत्यवायकी उत्पत्ति हो जाती है। संकल्पमें भूल हो जाय, क्रिया पूर्वापर हो जाय, अंग-संचालनमें त्रुटि हो जाय, सामग्री शुद्ध न हो, मन्त्र-वर्णका उच्चारण ठीक न हो, यजमानकी अन्यथा प्रवृत्ति हो जाय, पुरोहितसे त्रुटि हो जाय, अङ्ग-वैगुण्य हो जाय, ऐसे अनेक कारणोंसे अनुष्ठानात्मक-धर्मकी सफलतामें बाधा पड़ती है। कर्म-विशेषका नाम धर्म होता है, वह साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न होना चाहिये। किसी-किसी यज्ञ-यागमें, परिसंख्याविधिसे ही सही, हिंसाका भी समावेश होता है। उसके लिये श्रद्धा, उत्तम काल, पवित्र स्थान, न्यायोपार्जित वस्तु, वृत्ति-सन्तोष आदिकी भी अपेक्षा होती है। भागवत-धर्ममें यह सब कुछ अपेक्षित नहीं है, चाहे जो भी कर्म हो वह भगवान्‌के प्रति अर्पित होना चाहिये। कर्म-विशेषका नियम नहीं है, समर्पण-भावकी विशेषता है। जहाँ श्रौत-स्मार्त-धर्ममें कर्तृत्व, संकल्प, विधि, सामग्री एवं कर्म-समग्रताका बल है फलकी प्राप्तिके लिये, वहाँ भागवत-धर्ममें बल है तो केवल एक भगवान्‌का। इसमें कर्त्ता-कर्मकी प्रधानता नहीं है, उद्देश्यकी प्रधानता है। आचार्योंकी वाणी है, प्रमेय-बलसे भक्ति बलवती है। विधान-बलसे धर्म, अभ्यास-बलसे योग, प्रमाण-बलसे वेदान्त और प्रमेय-बलसे भक्ति। धर्म और भक्तिमें यही महान् अन्तर है। धर्म प्रमाताका क्रिया-कलाप है, भक्ति प्रमेयका अवतरण है। इसलिये शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे, संस्कारजन्य स्वभावसे, जो कुछ भी करे, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर नारायणके उद्देश्यसे समर्पित कर दे। भागवत-धर्ममें कर्मका स्वरूप निर्धारित नहीं है। एकमात्र भगवदर्पण ही उसका स्वरूप है। परधर्मरूप योगाभ्यासमें जहाँ क्रमशः अन्तर्मुख होते जाना आवश्यक है, वह शर्त भी भागवत-धर्ममें नहीं है। भागवत-धर्ममें अनुष्ठान नाममात्र ही है। वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानके समान (अनुष्ठान-निरपेक्ष) आस्थाप्रधान धर्म है। कहीं-कहीं तो आस्था भी प्रत्यक्ष देखनेमें आती है, जैसे अजामिलमें।

फल-वैलक्षण्य

श्रौत एवं स्मार्त-धर्मकी भागवत-धर्मके साथ यदि फलकी दृष्टिसे तुलना करें तो महान् अन्तर है। धर्मानुष्ठानसे कर्तामें या उनके अन्तःकरणमें एक ऐसी अपूर्व वस्तु उत्पन्न होती है जो धर्मानुष्ठानके पूर्व नहीं रहती। वही समयपर फलके रूपमें प्रकट होती है। जितना धर्म उसीके अनुपातमें फल। फल देकर अपूर्व नष्ट हो जाता है, फल भी समयपर नष्ट हो जाता है। क्षणिक कर्मसे अविनाशी फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती, चाहे वह स्वर्ग हो या ब्रह्मलोक, एक दिन न रहेगा। वहाँके सुखसे वञ्चित होनेपर दुःख भी अवश्यम्भावी है। कृतक अनित्य होता है, दृष्ट नष्ट हो जाता है—'जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना।' धर्मका फल उत्पाद्य, संस्कार्य, विकार्य, आप्य या विनाशी नहीं है, वह जड़-चेतन सबके परमार्थ-स्वार्थके रूपमें नित्य प्राप्त है। उसकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं है, अपने आपकी ही प्राप्ति है। इसलिये भागवत-

धर्मका फल भगवत्प्राप्ति विनश्वर नहीं है। गुण-विशिष्ट भगवान्‌की प्राप्ति भक्ति-विशिष्ट ज्ञानसे होती है, अतएव सगुण परमेश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति सर्वथा स्वाधीन है। इसको धर्मानुष्ठान, योगाभ्यास अथवा निर्गुण ज्ञानकी किञ्चित् भी अपेक्षा नहीं है।

पूर्व-मीमांसामें फलदाताके रूपमें ईश्वर स्वीकार नहीं है। उत्तर-मीमांसामें स्पष्ट-रूपसे ईश्वरको फलदाता अङ्गीकार किया हुआ है। जैसे धर्मात्माको धर्मके फलस्वरूप स्वर्ग-सुखादिरूप फल चाहिये, वैसे भक्तको भक्तिके सिवाय दूसरा कोई फल नहीं चाहिये। सम्पूर्ण साधनोंका फल भगवद्भक्ति है। यह स्वयं फल है; क्योंकि इसीमें भगवद्रस प्रतिफलित होता है। जिस फलमें भगवद्रस प्रतिफलित नहीं होता वह परिणाममें कटु है। भक्तके लिये भगवान्‌से बढ़कर भक्ति है। जैसे सती स्त्री अपनी भक्तिसे अपने सज्जन पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही भक्त भक्तिसे भगवान्‌को। भगवान्‌को वशमें करनेका सामर्थ्य भक्तिमें कहाँसे आयी?

भागवत-धर्म रसात्मक है

भक्तिके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए सांख्यवादी कहते हैं कि यह सत्त्व-गुणमयी प्रकृतिकी ही एक स्वाभाविक वृत्ति है। उनके दर्शनके अनुसार यह ठीक है, परंतु जड़ चञ्चला परिणामिनी प्रकृतिकी वृत्तिमें भगवान्‌को वशमें करनेका सामर्थ्य नहीं हो सकता। योगी लोग समाधिके साधनके रूपमें ईश्वरालम्बन चित्तवृत्तिको भक्तिके रूपमें स्वीकार करते हैं। वे ईश्वरप्रणिधानको महत्त्वपूर्ण तो स्वीकार करते हैं, परंतु समाधि-सिद्धिके लिये उसे निरोध्य मानते हैं। अक्लिष्टवृत्ति अवश्य है, परंतु है तो वृत्ति ही, जिसको स्वयं निरोध-स्थानमें जाना है, वह वृत्ति भगवान्‌को वशमें किस शक्तिसे करेगी? प्रक्रियावादी वेदान्ती अविद्याके परिणाम अन्तःकरणकी भगवदाकारवृत्तिको मुक्ति कहते हैं। परंतु ब्रह्मविद्याद्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका बाध होते ही मिथ्या हो जानेवाली भक्ति परमेश्वरको वशमें कैसे कर सकती है? कोई कहते हैं, भक्ति भी वैध क्रिया-कलाप अथवा रागानुगा-भावनामें उदित भावनाका परिपाक-विशेष है, वह भी परमेश्वरको वशमें करनेमें असमर्थ है। कोई कहते हैं—भक्ति ईश्वरकी शक्ति है, परंतु शक्ति शक्तिमान्‌को वशमें नहीं कर सकती। यह आह्लादिनी शक्ति भी नहीं है; क्योंकि उसका काम सेवा है, वशीकरण नहीं। वस्तुतः भगवान्‌को परमान्तरङ्गा आह्लादिनीका सारसर्वस्व ही भक्तिके रूपमें प्रकट होता है। वह भगवद्रससार-सर्वस्व राधा ही भक्तिके रूपमें प्रकट होकर भगवान्‌को अपने वशमें करती है। यह धर्मका फल नहीं है और न योगाभ्यास-स्थिति। यह भगवद्-रसका स्वतःसिद्ध आविर्भाव है।

भागवतधर्ममें प्रामाण्य-वैलक्षण्य

धर्ममें प्रमाण विधि-शास्त्र है, ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण वेदान्तशास्त्र है। निश्चय ही दोनों वेद हैं, शाश्वत ज्ञानके निधान हैं। इन्होंने अपने अंदर दुर्लभ रहस्यके रूपमें भक्तिको गुप्त रखा है। ऋषि-मुनियोंके मुखसे धर्म प्रकट हुआ। आचार्य महर्षियोंके द्वारा ज्ञान प्रकट हुआ। स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे यह वेदोंका गुप्त खजाना प्रकट हुआ। भगवान्‌की अदभ्र करुणा उनके कोमल हृदयको कोमलातिकोमल बनाकर अपने साथ रहस्यात्मक भक्तिको उनकी वाणीपर ले आयी और उन्होंने स्वयं इसका उपदेश किया। भगवान्‌ने स्वयं अपनी प्राप्तिके लिये जो उपाय बतलाये हैं उसे 'भक्ति' कहते हैं। इसका अर्थ है—भक्तिके वक्ता भी विलक्षण हैं। कोई अनुमानसे बता दे कि वह व्यक्ति अमुक स्थानपर मिलेगा, कोई सुन-सुनाके, कोई पूर्वस्मृतिके आधारपर, कोई कल्पना ही कर ले, इससे उस व्यक्तिका मिलना

सुनिश्चित नहीं हो जाता । परंतु यदि वह व्यक्ति स्वयं ही अपने मिलनेका स्थान, समय, युक्ति बता दे तो उसका मिलना सर्वथा सुनिश्चित हो जाता है । भगवत्-प्राप्ति न आकाशमें उड़नेकी बात है, न गुहामें प्रवेश करनेकी, न डुगडुगी पीटनेकी । यह भक्त-भगवान्‌का परस्पर प्रेम-मिलन है और वे स्वयं ही उसका संकेत करते हैं । भगवद्वचनकी विशेषता है—वह सबके लिये हितकारी होता है और सबके जीवनमें सद्भाव, चिद्भाव एवं आनन्दभावको भर देता है । भगवद्वचन छाँट-छाँटकर हित नहीं करता तथा रसदानमें किसी प्रकारकी कृपणता नहीं करता । अभिप्राय यह है कि भक्तिमें प्रमाण है भगवद्वाणी, जिससे वेदका गुप्त रहस्य प्रकट होता है । इस प्रकार वक्ताकी विशेषतासे भी भक्तिकी विशेषता है ।

--क्रमशः

एक संतका उपदेशामृत

तीन बातें सदा याद रखनी चाहिये—(१) दीनता, (२) आत्मचिन्तन और (३) सद्‌गुरुसेवा ।

भजनके विघ्न ये हैं—(१) लोकमें मान-प्रतिष्ठा होना, (२) देश-देशान्तरमें ख्याति होना, (३) धन लाभ होना, (४) स्त्रीमें आसक्ति होना, (५) संकल्प-सिद्धि अर्थात् जिस पदार्थकी इच्छा हो उसीका प्राप्त हो जाना ।

भगवत्प्राप्तिके लिये ये साधन अवश्य करने चाहिये—

(१) सहनशीलताका अभ्यास । (२) समयको व्यर्थ न गँवाना । (३) पदार्थ पास होते हुए भी भोगनेकी इच्छा न करना । (४) निरन्तर इष्टदेवका चिन्तन करना । (५) सद्‌गुरुकी शरण ग्रहण करना ।

श्रीभगवान् चार मनुष्योंपर अधिक प्रेम करते हैं और चारपर अधिक क्रोध करते हैं ।

इन चारपर अधिक प्रेम करते हैं—(१) दान करनेवालेपर प्रेम करते हैं, किंतु जो कंगाल होते हुए भी दान करता है उसपर अधिक प्रेम करते हैं । (२) शूरवीरपर प्रेम करते हैं, किंतु जो शूरवीर विचारवान् होता है उसपर अधिक प्रेम करते हैं । (३) दीनपर प्रेम करते हैं, किंतु जो धनी होकर भी दीन हो उसपर अधिक प्रेम करते हैं । (४) भक्तपर प्रेम करते हैं, किंतु जो बचपन या जवानीसे ही भक्ति करता है उसपर अधिक प्रेम करते हैं ।

इन चारपर अधिक क्रोध करते हैं—(१) लोभीपर क्रोध करते हैं, किंतु जो धनी होकर लोभ करता है उसपर अधिक क्रोध करते हैं । (२) पाप करनेवालेपर क्रोध करते हैं, किंतु जो बुढ़ापेमें पाप करता है उस-पर अधिक क्रोध करते हैं । (३) अहङ्कारीपर क्रोध करते हैं, किंतु जो भक्त होकर अहङ्कार करता है उसपर अधिक क्रोध करते हैं । (४) क्रिया-भ्रष्टपर क्रोध करते हैं, किंतु जो विद्वान् होकर क्रिया-भ्रष्ट होता है उसपर अधिक क्रोध करते हैं ।

विश्वास करो, मङ्गलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल रहे हैं । दुःखी क्यों होते हो ? दुःखी होना अपनेको अविश्वासकी अवस्थामें डालना है । सारी परिस्थितियोंके रचयिता ईश्वर हैं । जिन प्रभुने तुम्हें पैदा किया है, जिन प्रभुने तुम्हारी जीवन-रक्षाके लिये नाना वस्तुओंकी सृष्टि की है, जिन प्रभुने सूर्य और चन्द्रमा-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं, वे ही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेंगे । किंतु आवश्यकता है सर्वतोभावेन अपनेको उनके ऊपर छोड़ देनेकी—निछावर कर देने की । अपनी सारी अहंता और ममताको

उन्हींके चरणोंमें रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन हैं। बन्धनमें क्यों पड़े हो? इस महादुःखदायी बन्धनको अपना महाशत्रु समझ उतारकर फेंक दो।

जिस कार्यसे भगवच्चिन्तनमें कमी हो उसे कभी न करे। एक समय या दो समय भूखे रहनेसे यदि भजन बढ़ता हो तो वह करना चाहिये। जहाँतक हो खर्च कम करे, आवश्यकताओंको न बढ़ावे। विरक्तको तो माँगना ही नहीं चाहिये। साधु दाल-रोटी माँगकर खा ले या गृहस्थके घरमें जो मिले उसीसे निर्वाह कर ले।

जिसे अपना कल्याण-साधन करना हो उसे तीन काम करने चाहिये—जप, ध्यान और स्वाध्याय। इन तीनों कार्योंको नित्य नियमपूर्वक करते रहनेसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी सिद्धि हो जायगी। इसलिये इन तीनों कार्योंमें कमर कसकर लग जाना चाहिये।

विचारवान् पुरुषके लिये निन्दा और स्तुति दोनों ही फूलोंकी तरह हैं। निन्दा भी फूल हैं और स्तुति भी फूल हैं। दोनोंकी माला बनाओ और अनासक्त भावसे पहनकर चलो।

सबसे पहले अपने चित्तकी चिकित्सा करनी चाहिये। काम-क्रोधादिसे चित्त ही तो जल रहा है। अतः उसीको शान्त करना चाहिये।

जो संसारकी भक्ति करते हैं उन्हें संसार मिलता है और जो भगवान्की भक्ति करते हैं उन्हें भगवान् मिलते हैं। पुरुषार्थ है, इसे चाहे जिस ओर लगा दो। जिसकी भजनमें आसक्ति नहीं है उसे एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। उसके लिये एकान्त दुःखदायी हो जायगा। एकान्त पाकर उसका मन उसपर शासन करने लगेगा। उसे तो सत्संग करना चाहिये। जप और भजन करनेवाला पुरुष यदि अश्लील शब्द बोलता है तो उसका भजन व्यर्थ हो जाता है। ऐसे भजनसे क्या लाभ। जिसका देहाभिमान गल गया है, वस्तुतः उसीने कुछ पाया है। जिसका भगवान्के साथ सम्बन्ध है उसे राग-द्वेष नहीं होते। जिसके हृदयमें राग-द्वेष हैं उसका यह कहना कि मुझे भगवान्का दर्शन हो चुका है, सर्वथा मिथ्या है। राग-द्वेषवाले व्यक्तिको भगवान् कभी नहीं मिल सकते।

एक भट्टाचार्य थे। वे किसीकी बुराई सुनना नहीं चाहते थे। यदि उनसे कोई कहता कि अमुक जगह लड़ाई हो रही है तो वे कहते 'ऐसी बातें मत सुनाओ, बस, 'कृष्ण-कृष्ण' कहो।' वे बड़े अद्वितीय पण्डित थे और हर समय 'कृष्ण-कृष्ण' कहते रहते थे।

भक्त, ज्ञानी और योगी—ये तीनों ही शान्त रहते हैं। इन्हें व्यर्थ बातें करनेकी फुर्सत नहीं होती। भक्त हर समय भगवच्चिन्तनमें लगा रहता है, ज्ञानी आत्मानुसन्धानमें तत्पर रहता है और योगी प्राण-स्पन्दनके विरोधमें लगा रहता है। इस प्रकार ये तीनों ही शान्त रहते हैं, कभी व्यर्थ बात नहीं करते।

जिनकी बुद्धि संसारकी ओर है वे धीर नहीं कहला सकते। जिन्होंने बुद्धिको संसारकी ओरसे हटाकर भगवान्में लगा दिया है वे ही वास्तवमें धीर हैं।

जो व्यक्ति कुप्रवृत्तिमें तत्पर, मनुष्यत्वहीन, संसार-विष्ठाका कीड़ा, पशुधर्मी, मोहान्ध, उन्नतिकी आशासे रहित तथा प्रवृत्तिपरायण होता है, उसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती।

जो व्यक्ति विचारपरायण, सत्यनिष्ठ, संयमशील, शान्ति-कामी, दुःख-निवृत्तिमें तत्पर, पवित्रताका ही आदर्शवाला, श्रद्धा और वीर्यको ही बन्धु बनानेवाला तथा भगवन्नामका ही आभूषण पहननेवाला होता है, वह भगवान्को प्रेम-रज्जुसे बाँध लेता है।

जिस प्रकार सुकरातने प्रसन्न वदनसे विषपान कर लिया, किंतु सत्यको नहीं त्यागा, हरिदासने काजीके

अत्याचारसे हरिनाम नहीं त्यागा, हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद विचलित नहीं हुआ, इसी प्रकार धर्मनिष्ठ, सत्यवादी और कर्त्तव्यपरायण भगवद्भक्तको भगवन्निष्ठासे विचलित नहीं होना चाहिये।

साधकके लिये लोकसंग्रह अत्यन्त विघ्नकारी है तथा ब्रह्मचर्य, सरलता, निर्भयता और वैराग्य सहायक हैं। साधन परिपक्व हो जानेपर लोकसंग्रह हानिकारक नहीं होता।

गुण-दोष संसारी पुरुष ही देखता है, साधक और सिद्ध दोनों गुण-दोष नहीं देख सकते; क्योंकि साधकको अपने साधनके अतिरिक्त समय नहीं होता, जिसमें वह दूसरोंके गुण-दोष देखे तथा सिद्धको अपने लक्ष्यके अतिरिक्त कुछ प्रतीत ही नहीं होता। फिर वह गुण-दोष किसके देखे।

विरक्त और भगवत्प्रेमियोंके लिये ये दोहे बहुत उपयोगी हैं। उन्हें सर्वदा इनका मनन करना चाहिये—

राजकथा अरु जगकथा, भोगकथा तू त्याग।
ये तीनों त्यागे बिना, पावे नहिं अनुराग॥
रामकथा अरु सन्तकथा, भक्तकथा तू जान।
इन तीनोंके ज्ञानसे पावे पद निरवान॥
रूखा सूखा खाय के, ठण्डा पानी पीव।
देखि पराई चूपरी, मत ललचावै जीव॥
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होय।
अघट प्रेम पञ्जर बसे, प्रेम कहावै सोय॥
प्रेम सदा बढ़िबौ करे, ज्यों शशिकला सुवेश।
पै पूनौ या मैं नहीं, तातैं कबहुँ न शेष॥
एक नेम यह प्रेम को, नेम सबै छुटि जाहिं।
पै जो छाँड़ै जानिके, तहाँ प्रेम कछु नाहिं॥

जिसका मन एकाग्र हो तथा जिसकी विषयमें आसक्ति और किसी नवीन विषयकी इच्छा न हो, वही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है।

जिसके चित्तमें राग-द्वेष है उसका चित्त हलका (ओछा) हो जाता है और उसमें चञ्चलता बढ़ जाती है।

अभय-वाणी

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

मा भैषीः

प्रियतम! ओ मेरे प्रियतम! तेरे सब दुःख दूर करनेके लिये मैं नाम-रूपमें आया हूँ। नाम ले, तुझे अब कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। मैं तेरे भीतर-बाहर आनन्द और प्रकाश भर दूँगा। मेरे सरस स्पर्शसे अनुक्षण तू पुलकित रहेगा। तेरी आँखें दूसरे जगत्‌को नहीं देखेंगी। केवल देखेंगी आनन्दमय मुझको।

मैं सत्य कह रहा हूँ, मेरा नाम मृत्यु-संजीवन है।

न भयं यमदूतानां न भयं रौरवादिकम्।
न भयं प्रेतराजस्य गोविन्देत्यस्य जल्पनात्॥

'नाम-कीर्तनसे यमदूतोंका भय, रौरवादि नरकका भय नहीं रहेगा।' नाम ले, केवल नाम ले, नाम-कीर्तन ही परम ज्ञान, परम तपस्या और परमतत्त्व है। कोटि जन्मकी साधनाद्वारा प्राप्त परम पद भी नाम-कीर्तनकारी अनायास ही पाता है।

वह देख, सारे जगत्‌में दुःखकी आग धू-धू करके जल उठी है। आ! आ! तू अब देर मत कर। नामामृत-सागरमें डुबकी लगाकर, निर्भय होकर परमानन्दसे मेरे हृदयमें सदाके लिये विराज जा तनिक भी न डर—

मा भैः, मा भैः, मा भैषीः।

श्रीराधा-माधव-स्वरूपकी महिमा

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

जीवमात्र आनन्दकी इच्छा करते हैं—पूर्ण, नित्य और अखण्ड आनन्द चाहते हैं और अनवरत आनन्दके ही अनुसंधानमें लगे हैं। वे आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते; क्योंकि सब आनन्दसे ही निकले हैं, आनन्दमें ही निवास कर रहे हैं और आनन्दमें ही उन्हें लौट जाना है। परंतु आनन्द है क्या वस्तु और वह कहाँ है तथा कैसे प्राप्त हो सकता है, इस बातको जीव भूल गया है और इसीसे वह स्त्री, स्वामी, पिता-पुत्र, धन-सम्मान, पद-अधिकार आदि विनाशी प्राणी-पदार्थोंमें आनन्दकी खोज करता है। वस्तुतः आनन्दघन तो हैं भगवान् श्रीकृष्ण ही। अतएव नित्य, पूर्ण, अखण्ड आनन्दकी खोज करता हुआ वह प्रकारान्तरसे प्रतिक्षण श्रीकृष्णानुसंधानमें ही लगा है; पर वह भूल रहा है। इसी भूलको मिटाकर उसे सच्चे आनन्दके दर्शन करानेके लिये पूर्णानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना संतोंने बतायी है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि जितने भी प्रकारके प्रेमोंसे विशुद्ध आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णका आराधन होता है, उन सबके साधन तथा स्वरूप पृथक्-पृथक् बतलाये गये हैं। ये सारे प्रेम एक ही साथ, एक ही रूपमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रकट हों, ऐसा कोई मूर्तिमान उदाहरण उपस्थित करनेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही नित्य राधा बने हुए हैं। ये श्रीराधा श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण आनन्दशक्ति (ह्लादिनी-शक्ति) है, अतएव ये ही श्रीकृष्णकी आत्मा और जीवनाधार हैं। नित्य-सत्य चिदानन्द-प्रेमरस-विग्रह अखिलविश्वेश्वर श्रीकृष्ण इसीसे परम प्रेमस्वरूपा श्रीराधाके नितान्त वशीभूत और सर्वथा अनुगत हैं। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। प्रेमके बिना आनन्द नहीं रहता। आनन्दके बिना प्रेम नहीं रहता। श्रीकृष्ण आनन्दके घनीभूत श्रीविग्रह हैं। श्रीराधा प्रेमकी घनीभूत मूर्ति हैं। राधाके बिना श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके बिना श्रीराधा रह ही नहीं सकती।

श्रीकृष्ण ही राधाके जीवन हैं और श्रीराधा ही कृष्णकी जीवनस्वरूपा हैं। श्रीकृष्ण भोक्ता हैं, श्रीराधा भोग्या हैं, श्रीकृष्ण सेव्य हैं, श्रीराधा सेविका हैं, श्रीकृष्ण आराध्य हैं, श्रीराधा आराधिका हैं। कहीं-कहीं इसके ठीक विपरीत, श्रीकृष्ण भोग्य हैं, सेवक हैं, आराधक हैं और श्रीराधा भोक्त्री, सेव्या और आराध्या हैं।

इन आह्लादिनी शक्ति श्रीराधाकी लाखों-करोड़ों अन्तरङ्ग वृत्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिपल श्रीराधा-कृष्णकी सेवा तथा उनकी सुख-संवर्धनामें लगी रहती हैं। श्रीराधा-कृष्णको प्रसन्न—सुखी देखना तथा करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य, स्वभाव या स्वरूप है। ये श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा सखी-सहचरियाँ सदा-सर्वदा सेवामें संलग्न रहती हैं और श्रीराधा-कृष्णके सुखार्थ इनके सहयोगसे तथा इनके माध्यमसे जो दिव्य क्रीड़ा प्रकट होती रहती है, उसीका नाम 'रास' है। यह रास नित्य चलता रहता है। श्रीकृष्ण सनातन पूर्णब्रह्म स्वयं भगवान् हैं। वे ही अखिल-रस-सुधा-विग्रह हैं। इन रसराज, रसरूप, रसिकशेखरके रसास्वादनके लिये होनेवाली चिदानन्द-रसमयी क्रीड़ाका नाम ही 'रास' है। इसीसे स्वयं नारायणके नाभि-कमलसे प्रादुर्भूत श्रीब्रह्माजी तथा रसिकेन्द्रशेखरके हृदयपर नित्य विहार करनेवाली साक्षात् लक्ष्मीजीको भी प्रेमी भक्तगण इस 'रास'का अधिकारी नहीं मानते। दिव्य प्रेमस्वरूपा गोपीजन और दिव्यानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी यह रासलीला कामगन्ध-लेश शून्य है। गोपियोंका यह प्रेम उद्दीप्त दिव्य

सात्त्विक भाव है। इसीको वैष्णव संत 'रूढ़ महाभाव' कहते हैं। श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंकी सेवासे भगवान् श्रीकृष्णको जितनी प्रसन्नता होती है, भगवान् श्रीकृष्णकी सेवासे उनको उससे कहीं अधिक आनन्द प्राप्त होता है। यों परस्पर होड़-सी लगी रहती है और निरन्तर एक-दूसरेके सुखका अनुसंधान बना रहता है। यह लीला वस्तुतः अपने-आपमें ही होती है। भगवान् नित्य सत्य तथा अविच्छिन्न हैं, उनकी यह अविच्छिन्नता इस लीलामें भी सदा अक्षुण्ण रहती है। श्रीराधा श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता शक्ति हैं। इसलिये उनका नित्य ऐक्य है। श्रीकृष्णका सारा आनन्द उनमें परिपूर्ण है और वे ही श्रीकृष्णको भी नित्य आनन्द देनेवाली हैं।

आनन्द-चिन्मय रसरूप प्रेमका परम सार है—'महाभाव' और श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं। इस महाभावके आनन्दका आस्वादन करनेके लिये आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण सदा लालायित रहते हैं। इसीसे पूर्णकाममें कामना तथा नित्य तृष्णाहीनमें तृष्णाका उदय देखा जाता है और वे (श्रीराधा) श्रीकृष्णकी दिव्य रसमयी लालसा, कामना और तृष्णाको पूर्ण करनेमें ही नित्य संलग्न रहती हैं।

व्रजके श्रीकृष्णकी उपासना सौन्दर्यकी उपासना है। इसमें रसकी प्रधानता है। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण सौन्दर्यके आधार, अखिलरसामृतसिन्धु हैं, उनकी आराधनाके लिये आराधकको भी सुन्दर बनना आवश्यक है। इस सुन्दरतामें केवल बाह्य सुन्दरताको ही स्थान नहीं है। बाह्य सौन्दर्य भी अपेक्षित है, परंतु सच्चा सौदर्न्य तो हृदयका है—जिसमें अहंता, कामना, वासनाका कलङ्क-लेश नहीं, विषयासक्तिकी तनिक-सी मलिनताकी छाया नहीं तथा स्व-सुखकी किंचित् भी कल्पना नहीं है। जो केवल प्रियतमके प्रेम-रसरूप सुधासे ही नित्य परिपूर्ण है, जिसमें केवल प्रियतम श्रीकृष्णके सुखकी ही चाह सहज है, ऐसे दिव्य अनन्त अखण्ड-अनन्य सौन्दर्यकी जीती-जागती प्रतिमा हैं—श्रीराधाजी ! इन्हीं श्रीराधाजीके भावोंको आदर्श मानकर इस पावन प्रेम-पथपर अनन्य प्रेमपिपासु विषयविरक्त त्यागी साधक अग्रसर हो सकता है। इस पथपर चलनेवालोंको श्रीराधाके आदर्शका ध्यान रखते हुए इनके भक्तोंकी पदधूलिको मस्तकपर धारण करके चलनेका प्रयास करना चाहिये। अब कुछ क्षण माधवसहित श्रीराधाजीकी पूर्ण महिमा-स्मृतिमें बिताइये—

शिववर्णित राधा-स्वरूप-महिमा

पद्मपुराणमें भगवान् शंकर देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—श्रीकृष्णप्रिया राधा अपनी चैतन्य आदि अन्तरङ्ग विभूतियोंसे इस प्रपंचका गोपन अर्थात् संरक्षण करती हैं, इसलिये उन्हें 'गोपी' कहते हैं। वे श्रीकृष्णकी आराधनामें तन्मय होनेके कारण 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीकृष्णमयी होनेसे ही वे 'परा देवता' हैं, पूर्णतया 'लक्ष्मीस्वरूपा' हैं। श्रीकृष्णके आह्लादका मूर्तिमान् स्वरूप होनेके कारण मनीषीजन उन्हें 'ह्लादिनीशक्ति' कहते हैं। श्रीराधा साक्षात् महालक्ष्मी हैं और भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं। मुनिश्रेष्ठ ! इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। श्रीराधा दुर्गा हैं तो श्रीकृष्ण रुद्र। वे सावित्री हैं तो ये साक्षात् ब्रह्मा हैं। अधिक क्या कहा जाय, उन दोनोंके बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता नहीं है। जड़-चेतनमय सारा संसार श्रीराधा-कृष्णका ही स्वरूप है। इस प्रकार सबको इन्हीं दोनोंकी विभूति समझो। मैं नाम ले-लेकर गिनाने लगूँ तो सौ करोड़ वर्षोंमें भी उस विभूतिका वर्णन नहीं कर सकता। तीनों लोकोंमें पृथ्वी सबसे श्रेष्ठ मानी गयी है। उसमें भी जम्बूद्वीप सब द्वीपोंमें श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष और भारतवर्षमें भी मथुरापुरी श्रेष्ठ है। मथुरामें भी वृन्दावन, वृन्दावनमें भी गोपियोंका समुदाय, उस समुदायमें श्रीराधाकी सखियोंका वर्ग तथा उसमें भी स्वयं श्रीराधिकाजी सर्वश्रेष्ठ हैं।

श्रीनारदद्वारा राधा-दर्शन तथा स्तवन

इन अखिल-जगदीश्वरी, रासेश्वरी, नित्यनिकुंजेश्वरी, नित्य-श्रीकृष्णवल्लभा, श्रीकृष्णात्मा, श्रीकृष्णप्राणस्वरूपा, श्रीकृष्णाराधनतत्परा, श्रीकृष्णाराध्या श्रीश्रीराधाजीका मङ्गलमय दर्शन प्राप्त करनेके लिये देवर्षि नारद श्रीवृषभानुपुर पहुँचे और वहाँ वृषभानुके साथ प्रसूतिघरमें प्रवेश करके पृथ्वीपर सोयी हुई अखिल-जगज्जननी अखिल-सौन्दर्य-प्रतिमा नवजात कन्याको देखकर वे मुग्ध हो गये और एकमात्र रसायनरूप परमानन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगे। तदनन्तर उन्होंने कन्याको अपनी गोदमें उठा लिया और गोपप्रवर भानुको कार्यान्तरसे कहीं अन्यत्र भेजकर वे उन दिव्यरूपधारिणी बालिकाकी स्तुति करने लगे।

नारदजी बोले—'देवि ! तुम महायोगमयी हो, मायाकी अधीश्वरी हो। तुम्हारा तेज:पुञ्ज महान् है। तुम्हारे दिव्याङ्ग मनको अत्यन्त मोहित करनेवाले हैं। तुम महान् माधुर्यकी वर्षा करनेवाली हो। तुम्हारा हृदय अत्यन्त अद्भुत रसानुभूतिजनित दिव्य आनन्दसे परिप्लुत तथा शिथिल रहता है। मेरा कोई महान् सौभाग्य था, जिससे तुम मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट हुई हो। देवि ! तुम्हारी दृष्टि सदा आन्तरिक दिव्य सुखमें निमग्न दिखायी देती है। तुम भीतर-ही-भीतर किसी अगाध आनन्दसे परितृप्त जान पड़ती हो। तुम्हारा यह प्रसन्न, मधुर एवं शान्त मुखमण्डल तुम्हारे अन्त:करणमें किसी परम आश्चर्यमय आनन्दके उद्रेककी सूचना दे रहा है। सृष्टि, स्थिति और संहार तुम्हारे ही स्वरूप हैं, तुम्हीं इनका अधिष्ठान हो। तुम्हीं विशुद्ध सत्त्वमयी हो तथा तुम्हीं पराविद्यारूपिणी शक्ति हो। तुम्हारा वैभव आश्चर्यमय है। ब्रह्मा और रुद्र आदिके लिये भी तुम्हारे तत्त्वका बोध होना कठिन है। बड़े-बड़े योगीश्वरोंके ध्यानमें भी तुम कभी नहीं आतीं। तुम्हीं सबकी अधीश्वरी हो। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति—ये सब तुम्हारे अंशमात्र हैं। ऐसी ही मेरी धारणा है—मेरी बुद्धिमें यही बात आती है। मायासे बालकरूप धारण करनेवाले परमेश्वर महाविष्णुकी जो मायामयी अचिन्त्य विभूतियाँ हैं, वे सब तुम्हारी अंशभूता हैं। तुम आनन्दरूपिणी शक्ति और सबकी ईश्वरी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें तुम्हारे ही साथ नित्य लीला करते हैं। कुमारावस्थामें भी तुम अपने रूपसे विश्वको मोहित करनेकी शक्ति रखती हो। किंतु तुम्हारा जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको परमप्रिय है, आज मैं उसीका दर्शन करना चाहता हूँ। महेश्वरि ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ, चरणोंमें पड़ा हूँ,। मुझपर दयाकर इस समय अपना वह मनोहर रूप प्रकट करो, जिसे देखकर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण भी मोहित हो जायँगे।'

यों कहकर देवर्षि नारदजी श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए इस प्रकार उनके गुणोंका गान करने लगे—'भक्तोंके चित्त चुरानेवाले श्रीकृष्ण ! तुम्हारी जय हो। वृन्दावनके प्रेमी गोविन्द ! तुम्हारी जय हो। बाँकी भौंहोंके कारण अत्यन्त सुन्दर, वंशी बजानेमें व्यग्र, मोरपंखका मुकुट धारण करनेवाले गोपीमोहन ! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने श्रीअङ्गोंमें कुङ्कुम लगाकर रत्नमय आभूषण धारण करनेवाले नन्दनन्दन ! तुम्हारी जय हो, जय हो। अपने किशोरस्वरूपसे प्रेमीजनोंका मन मोहनेवाले जगदीश्वर ! वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हारी ही कृपासे तुम्हें अभिनव तरुणावस्थाके अनुरूप अङ्ग-अङ्गमें मनोहर शोभा धारण करनेवाली इस दिव्यरूपा बालिकाके साथ देखूँगा।'

नारदजी जब इस प्रकार कीर्तन कर रहे थे, उसी समय वह नन्ही-सी बालिका क्षणभरमें अत्यन्त मनोहर

दिव्यरूप धारण करके पुनः उनके सामने प्रकट हो गयी। वह रूप चौदह वर्षकी अवस्थाके अनुरूप और सौन्दर्यकी चरम सीमाको पहुँचा हुआ था। तत्काल ही उसीके समान अवस्थावाली दूसरी अनेकों व्रज-बालाएँ भी दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे सुसज्जित हो वहाँ प्रकट हो गयीं तथा भानुकुमारीको सब ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं।

अखिल-विद्या-विशारद देवर्षि नारदजीकी स्तवन-शक्तिने जवाब दे दिया। वे आश्चर्यसे मोहित हो गये। तब उन व्रजबालाओंने कृपापूर्वक अपनी सखीका चरणोदक लेकर उसे मुनिके ऊपर छिड़का, तब उन्हें बाह्य चेतना हुई। तदनन्तर उन भाग्यवती बालिकाओंने कहा—'मुनिश्रेष्ठ! तुम बड़े भाग्यशाली हो, महान् योगेश्वरोंके भी ईश्वर हो। तुम्हींने पराभक्तिके साथ सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिकी आराधना की है। भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान्की उपासना वास्तवमें तुम्हारे ही द्वारा हुई है। यही कारण है कि ब्रह्मा और रुद्र आदि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर तथा अन्य भगवद्-भक्तोंके लिये भी जिसे देखना और जानना कठिन है, वही अपनी अद्भुत अवस्था और रूपसे सबको मोहित करनेवाली यह श्रीकृष्णकी प्रियतमा हमारी सखी आज तुम्हारे समक्ष प्रत्यक्ष प्रकट हुई है। निश्चय ही वह तुम्हारे किसी अचिन्त्य सौभाग्यका प्रभाव है। ब्रह्मर्षे! धैर्य धारण कर शीघ्र ही उठो, खड़े हो जाओ और इस देवीकी प्रदक्षिणा करो, इसके चरणोंमें बारंबार मस्तक झुका लो। फिर समय नहीं मिलेगा, ये अभी इसी क्षण अन्तर्धान हो जायँगी। अब इनके साथ तुम्हारी बातचीत किसी तरह नहीं हो सकेगी।'

व्रजबालाओंका चित्त स्नेहसे विह्वल हो रहा था। उनकी बातें सुनकर नारदजी नाना प्रकारके वेष-विन्याससे शोभा पानेवाली उस दिव्य बालाके चरणोंमें दो मुहूर्ततक पड़े रहे। तदनन्तर उन्होंने भानुको बुलाकर उस सर्वशोभासम्पन्ना कन्याके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा—'गोपश्रेष्ठ! तुम्हारी इस कन्याका स्वरूप और स्वभाव दिव्य है। देवता भी इसे अपने वशमें नहीं कर सकते। जो घर इसके चरणचिह्नोंसे विभूषित होगा, वहाँ भगवान् नारायण सम्पूर्ण देवताओंके साथ निवास करेंगे और भगवती लक्ष्मी भी सब प्रकारकी सिद्धियोंके साथ वहाँ वर्तमान रहेंगी। अब तुम सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषित इस सुन्दरी कन्याको परादेवीकी भाँति समझकर इसकी अपने घरमें प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो।'

इन श्रीकृष्णमयी आनन्द-प्रेम-रस-प्रतिभाविता महाभाव-स्वरूपा श्रीराधाका आज (भाद्र शुक्ल अष्टमी) परम पुनीत प्राकट्य-दिवस है। इसी तिथिको इन्होंने श्रीवृषभानु-पुरमें परम सौभाग्यशाली श्रीवृषभानु तथा परम सौभाग्यमयी श्रीकीर्तिरानीके घर प्रकट होकर उन्हें धन्य बनाया था। हम लोगोंका परम सौभाग्य है कि आज हम लोग उन्हीं सखियोंसे युक्त श्रीराधारानीकी पूजा-अर्चना करने तथा जन्मोत्सव मनानेका सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं।

मन्मथ-मन्मथ मन मथत जाके सुसुमित अंग।
मुख-पंकज-मकरंद नित पियत स्याम दृग भृंग॥ १॥
जाके अंग-सुगंध कौं नित नासा ललचात।
तन चाहत नित परसिबो जाको मधुमय गात॥ २॥
मधु-रसमयि बचनावली सुनिबे कौं नित कान।
हरि के लालायित रहत, तजि गुरुता कौ मान॥ ३॥
जाके मधुर प्रसाद को मधु रस चाखन-हेतु।
हरि-रसना अकुलात अति तजि दुस्त्यज श्रुति-सेतु॥ ४॥
जाकी नख-दुति लखि लजत कोटि-कोटि रबि-चंद।
बंदौं तिन राधा-चरन-पंकज सुचि सुखकंद॥ ५॥

बोलिये, कीर्तिकुमारी वृषभानुदुलारी नन्दनन्दनप्यारी श्रीराधा-सुकुमारीकी जय! जय! जय!

साधकोंके प्रति--

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

परमात्मतत्त्व चेतन है, नित्य है। उस तत्त्वकी प्राप्ति होनेपर कुछ भी करना बाकी नहीं रहता; कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता; कुछ भी मानना बाकी नहीं रहता; कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। मनुष्य-जन्म पूर्णतासे सफल हो जाता है।

जिसके लिये मनुष्य-जन्म मिला है, उस जन्मकी वास्तवमें पूर्णता यही है कि मनुष्य उस तत्त्वको जान ले। शास्त्रोंमें उस तत्त्वको बड़ा दुर्लभ बताया गया है। उसकी बहुत ही महिमा गायी गयी है; परंतु उसकी प्राप्ति कठिन भी बतायी गयी है और सुगम भी बतायी गयी है। सन्त-महात्माओंने, महापुरुषोंने भी उसकी प्राप्ति कठिन-से-कठिन और सुगम-से-सुगम बतायी है। परंतु लोगोंका ध्यान कठिनतापर ज्यादा है और सुगमतापर कम है। जो वेदान्तका ग्रन्थ—योगवासिष्ठ है, उसमें कहा गया है कि फूलको मलनेमें तो देरी लगती है, पर आत्मज्ञान होनेमें देरी नहीं लगती। अष्टावक्रगीतामें भी आया है कि ज्ञान तो एक क्षणमें हो सकता है। घोड़ेपर चढ़नेके लिये एक पैर पायदानमें रख दिया तो अब घोड़ेपर चढ़नेमें क्या देरी लगती है? ऐसे ही ब्रह्मज्ञान शीघ्रतासे हो सकता है। तात्पर्य यह कि बहुत थोड़ी देरमें और बहुत सुगमतासे प्राप्ति हो जाय—ऐसी बात भी आती है और कठिनताकी बात भी आती है। उस तत्त्वको जाननेके लिये एक बहुत सुगमताकी बात बतायी जाती है।

जिन चीजोंको आप नाशवान् समझते हैं, उत्पत्ति-विनाशशील मानते हैं, जानते हैं और देखते हैं कि यह शरीर है, सम्पत्ति है, कुटुम्ब है, वैभव है—ये सभी उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं, इसमें कोई संदेह है क्या किसीके? जिन बातोंको आप जानते हैं, उनसे केवल मोह हटाना है। बस, इतना ही काम है। 'अन्तहुँ तोहिं तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते'—'अन्तमें ये सब तुमको छोड़ेंगे ही, तो तू अभीसे ही क्यों नहीं छोड़ देता'—ऐसा श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज अपने मनसे कहते हैं। तात्पर्य है कि इस अनित्यका त्याग करनेसे जो नित्य तत्त्व है, जिसको आत्मतत्त्व कहते हैं, परमात्मतत्त्व कहते हैं, उसकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि वह तो आपका स्वरूप है। वह आपके भीतर है। उसको आप स्वतःसिद्ध प्राप्त हैं। उस तत्त्वको प्राप्त होते हुए भी केवल नाशवान्के मोहसे अप्राप्त हो रहे हैं। उस सत्की प्राप्ति असत्के त्यागसे होती है। असत्को आप असत् जानते हो, मानते हो, देखते हो और अनुभव भी करते हो। यह आपके अनजानपनेकी बात नहीं है। परमात्मा तो न जाने क्या है, कहाँ है, पता नहीं; परंतु यह संसार रहेगा नहीं, यह कुटुम्ब रहेगा नहीं, ये रुपये रहेंगे नहीं, यह शरीर रहेगें नहीं, यह परिस्थिति रहेगी नहीं, यह घटना रहेगी नहीं—इसका आपको पूरा पता है। तात्पर्य है कि अभीका यह जो संसार दीखता है, यह रहेगा नहीं, यह चला ही जायगा। इस बातको आप जानते हैं। इस जाने हुए असत्का त्याग कर दो। जाने हुए असत्का त्याग करते ही सत्य-तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

आप मानते हैं कि यह रुपयोंका मोह, कुटुम्बका मोह, शरीरका मोह छूटता नहीं। उसको छोड़नेके लिये एक सुगम उपाय बताया जाता है। उसको आप घरसे शुरू करो और बाहर भी शुरू करो। आप जहाँ काम करते हो, वहाँ यह बात शुरू कर दो कि 'दूसरोंको सुख कैसे हो'। कष्ट, दुःख, संताप मैं प्राप्त कर लूँ, पर औरोंको सुख हो। घरमें रहते हुए हरदम ऐसा भाव रखो कि अपने माता-पिता, भाई-भौजाई, भतीजे, स्त्री-पुत्र—इन सबको सुख कैसे हो? ये हमारा

कहना मानें चाहे न मानें, हमारी सेवा करें चाहे न करें, पर इनको सुख कैसे हो ? इनका कल्याण कैसे हो ? इनको लाभ कैसे हो ? इनको आराम कैसे हो ?

खुद कष्ट उठाकर भी दूसरोंको सुख पहुँचाना है। वह कष्ट कितना उठाना है ? जितना आप सुगमतासे सह सकें, उतना ही कष्ट उठाना है; उससे अधिककी जरूरत नहीं है। बड़ा भारी कष्ट सहनेकी जरूरत नहीं है। परंतु दूसरोंको एक नम्बरका सुख-आराम होना चाहिये और हमारेको दो नम्बरका। स्त्रीको ब्याह करके लाये हो, तो उसके लिये भोजन है, कपड़ा है, रहनेका स्थान है, उसकी आवश्यक चीजें हैं, वह सब अच्छी-से-अच्छी, एक नम्बरकी उसको दो और दो नम्बरका खाना-पीना, रहना-पहनना आदि आप अपने काममें लो। कारण कि वह अपना घर छोड़कर आपके यहाँ आयी है। आपने क्या छोड़ा ? आप तो अपने घरपर बैठे हो, अपने पिताकी गद्दीपर बैठे हो। तात्पर्य है कि वह बेचारी तो अपना कुटुम्ब छोड़कर आयी है, इस वास्ते अपनी अपेक्षा उसको ज्यादा सुख मिलना चाहिये। परंतु वह हमारेको सुख दे—यह भावना सर्वथा छोड़ देनी पड़ेगी। क्योंकि सुख लेनेके लिये सुख देना—यह तो व्यापार है। इससे तो संसारमें चलना पड़ेगा, जन्मना-मरना पड़ेगा। जबतक व्यापार रहता है, तबतक लेन-देन कैसे छूटेगा ? जैसे, कहीं आपकी दूकान है और आप वहाँसे दूकान उठाना चाहते हैं तो आपको दो तरीके अपनाने पड़ेंगे। आपसे जो माँगते हैं, उनको तो आप चुका दो और आप जिनसे माँगते हो, वे जितना दे दें, उतना ले लो और बाकीको छोड़ दो, तो दूकान उठेगी। परंतु उनसे पूरा-का-पूरा लेना चाहोगे तो थोड़ा देना पड़ेगा। वह देना-लेना लगातार चलता रहेगा तो दूकान नहीं उठेगी। इसी तरहसे संसारसे लेना और देना चलेगा तो यह दूकान नहीं उठेगी अर्थात् संसारसे सम्बन्ध नहीं टूटेगा और बार-बार जन्मना-मरना पड़ेगा। इस वास्ते लेना तो छोड़ दो और देना पूरा दे दो। तात्पर्य है कि उनको सुख तो पूरा पहुँचाना है, उनका हित तो पूरा करना है। वे सेवा कर दें तो अच्छी बात और सेवा न करें तो उनसे सेवा लेनी है—यह आशा बिल्कुल मत रखो।

शास्त्रोंने यह तो कहा है कि माँ-बापकी सेवा करो, स्त्री-बच्चोंका पालन करो; परंतु यह कहीं नहीं कहा है कि माँ-बापसे सेवा लो, स्त्री-पुत्र आदिसे सेवा लो, उनसे अपना स्वार्थ सिद्ध करो। तात्पर्य है कि दुनियासे सुख ले लो, संसारका सब धन ले लो—ऐसा नहीं कहा है, प्रत्युत सबकी सेवा करो, सबको सुख पहुँचाओ, सबका हित करो, सबका भला करो—ऐसा कहा है। अपनी तरफसे सुखपूर्वक जितना दे सको, उतना दे दो। इसमें दो बातें याद रखनी हैं (१) उनकी माँग न्यायपूर्वक है तो अपनी शक्तिके अनुसार उनको दो और (२) अगर वे अन्यायपूर्वक माँगें तथा आपकी शक्तिसे अधिक माँगें तो माफी माँग लो कि मैं असमर्थ हूँ, मेरी शक्ति नहीं है। जैसे आप साधारण गृहस्थ हो। आपकी स्त्री आपसे कहे कि 'मैं तो रेशमी साड़ी पहनूँगी, बढ़िया गहने पहनूँगी, तो आप प्यारसे, स्नेहसे कह दो—जब हमारा निर्वाह भी मुश्किलसे होता है तो तुम ही बताओ कि मैं रेशमी साड़ी कहाँसे लाऊँ ? इस वास्ते मैं रेशमी साड़ी दे नहीं सकता। हाँ, मेरे पहननेमें जिस कीमत-का कपड़ा काममें आता है, उससे ज्यादा कीमतका कपड़ा तुम पहन लो। ऐसा कपड़ा तो मैं दे सकता हूँ, पर बहुत बढ़िया कपड़ा देनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं है।' इतनेपर भी वह कलह करे, दुःख दे, कष्ट दे, तो सह लो और यह समझो कि मेरे पाप

नष्ट हो रहे हैं। मेरा कोई बदला है, वह चुक रहा है, बड़े आनन्दकी बात है! तात्पर्य है कि वह कष्ट दे तो राजी हो जाओ कि बहुत अच्छा हो रहा है, मेरा भला हो रहा है। इतनेपर भी उसको दुःख मत दो। उसका तिरस्कार मत करो। स्त्रीपर हाथ उठाना, मार-पीट करना महान् पाप है। इस वास्ते उसका भरण-पोषण करो।

कूबोजी महाराज एक सन्त हुए हैं। उनका सम्प्रदाय भी है। वे भगवान्‌के बड़े भक्त थे और भगवान्‌के भजनमें रात-दिन तल्लीन रहते थे। वे मजदूरी करते हुए भी भजन करते रहते थे। एक बार वे किसीका मकान बना रहे थे तो वह मकान उनके ऊपर गिर पड़ा। मकानके गिरनेसे वे मकानके नीचे दब गये। इससे वे कूबे हो गये, अर्थात् उनके कूब निकल आयी। उस दिनसे उनका नाम भक्त कूबोजी हो गया। तो कूबोजीकी स्त्री उनको बहुत दुःख देती थी, कष्ट देती थी, पर वे उसका भरण-पोषण करते थे। अन्तमें वह स्त्री कूबोजीको छोड़कर दूसरे पुरुषके साथ चली गयी। वर्षोंतक वहाँपर रही। उसके कई बाल-बच्चे हो गये। वह पुरुष मर गया तो वह अनाथ हो गयी। वह पीछे फिर कूबोजीके घरपर आयी तो कूबोजीने कहा कि तुम यहाँ खूब आनन्दसे रहो, मौजसे रहो। तो उन्होंने उसको अपने घरपर रखा। उसको रोटी-कपड़ा दिया, उसके बाल-बच्चोंका पालन-पोषण किया, परंतु उस स्त्रीके साथ अपनी स्त्री-जैसा व्यवहार नहीं किया। तात्पर्य है कि पालन-पोषण करनेके लिये मना नहीं है, मना तो उससे सुख लेनेके लिये ही है। इसी तरहसे घरके प्राणी हमारा कहना मानें—यह भावना ही मत रखो। भीतरमें उनसे आशा मत रखो, क्योंकि संसारसे आशा रखना, सुख लेना और सुख भोगना—ये ही दुःखके कारण हैं, ये ही बाँधनेवाली चीजें हैं। ये आत्मज्ञान होने नहीं देतीं, अपने स्वरूपका बोध होने नहीं देतीं।

जड़ताका आवरण दूर होता है सेवा करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे। इस वास्ते प्राणिमात्रको सुख कैसे हो, उनका भला कैसे हो? यह भाव रखो—**सर्वभूतहिते रताः**। दूसरे आपको दुःख दें तो भी उनको सुख दो—**'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'** विभीषणने रावणको बड़ी अच्छी बात कही, उसके हितकी बात कही, पर रावणने जब विभीषणको लात मारी तो विभीषणने कहा—**'तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा'**—आप पिताके समान हैं, भाई हैं। मेरेको मारा तो कोई हर्ज नहीं, पर **'रामु भजें हित नाथ तुम्हारा'**—तुम्हारा हित तो भगवान्‌के भजनसे ही है। तो जो भलाई करेगा, उसको भलाई मिलेगी और बुराई करेगा उसको बुराई मिलेगी।

संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेका यह सुगम उपाय है कि आपके जो-जो सम्बन्धी हैं, उनकी सेवा तो करो, परंतु उनसे सेवा मत चाहो। वे सेवा न करें, तिरस्कार करें, अपमान करें, तो समझना चाहिये कि दुगुना फायदा हो रहा है। एक तो मैं सेवा करता हूँ, इसका फायदा होता है और दूसरा, ये दुःख देते हैं, उससे मेरे पाप नष्ट होते हैं। अगर आप ऐसी हिम्मत कर लो तो,जो संसारकी आसक्ति है, कामना है, ममता है, प्रियता है, मोह है—वे सब छूट जायँगे। आप करके देख लो।

आप दूसरोंका कर्जा चुकाओ और नया कर्जा लो मत। पहले उनसे जो सुख लिया है, यह पुराना कर्जा है और अब उनसे जो सुख लेते हो, यह नया कर्जा है। पुराना कर्जा तो उनकी सेवा करके चुका दो। उनसे नया सुख मत चाहो तो नया कर्जा

*

नहीं होगा। इसमें एक बात ध्यान देनेकी है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपकी स्त्री भोजन बना कर दे और आप भोजन न करो। किंतु मैं यह कहता हूँ कि स्त्री भोजन बनाकर दे तो खूब अच्छी तरहसे भोजन करो। वह सेवा करे तो सेवा ले लो—इसमें कोई हर्ज नहीं है। ऐसे ही माँ भोजन बनाकर दे तो खूब प्रेमसे भोजन करो। केवल माँकी राजीके लिये अर्थात् माँ कैसे राजी हो, इसके लिये भोजन करो। परंतु सेवा लेते हुए सुख मत लो, राजी मत होओ, उसमें फँस मत जाओ। आप उनसे सेवाकी आशा मत रखो, कामना मत रखो और वक्तपर उनसे निर्वाहकी चीज ले लो, बाधा नहीं लगेगी।

जयदयालजी गोयन्दका थे; जिन्होंने गीताप्रेस खोला है, 'कल्याण' मासिक पत्र चलाया है जिससे इतना प्रचार हुआ है। वे बालकपनसे ही भजनमें लग गये थे। वे जब भोजन करनेके लिये बैठते तो माँ कहती—बेटा क्या पुरसूँ? तो वे कहते कि 'तेरे पास जो चीज ज्यादा हो, वह दे दे'। माँ कहती—'सबने भोजन कर लिया है, दाल ज्यादा बची है' तो वे कहते कि दाल दे दे। उनका यह भाव रहता कि माँको भी सुख हो और अपना भोजन भी हो जाय। तात्पर्य है कि भोजन भी करना है तो उनको आराम कैसे मिले?—इस दृष्टिसे करना है। ऐसे ही कोई काम करना है तो दूसरोंको सुख-आराम ज्यादा हो। अपनेको सुख और आराम नहीं लेना है। क्योंकि सुख तो हरेक प्राणी चाहता है, नीचे प्राणी भी चाहते हैं, इसमें मनुष्यता क्या हुई? मनुष्यता तो इसी बातमें है कि दूसरोंको सुख हो, आराम हो, दूसरोंका भला हो, हित हो। इन बातोंको लेकर आप आचरण करो तो आप गृहस्थमें रहते हुए और सब काम करते हुए भी परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाओगे। यह कितनी सुगम बात है। गीता भी यही शिक्षा देती है।

अर्जुन कहते हैं कि 'मैं भीख माँगकर निर्वाह कर लूँगा, पर युद्धमें गुरुजनोंको नहीं मारूँगा; क्योंकि युद्ध करना बड़ा क्रूर काम है'। तो भगवान् कहते हैं—क्षत्रियके लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसको करो, परंतु जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख—इनको समान समझ करके करो तो तुमको पाप नहीं लगेगा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥
(२।३८)

पाप कहाँ लगता है? जहाँ अपने स्वार्थके लिये दूसरोंको दुःख देते हैं; अपनी बात, अपनी मूँछ रखते हैं कि 'मैं ऐसा करूँगा'। इस वास्ते कहा है—

धन जोबन अरु चातुरी, ये तो जानउँ ठग।
मती करो रे मानवा, यह पुटियावाला पग॥

पुटिया नामका एक छोटा-सा पक्षी होता है। वह अपने घोंसलेमें रहता है, पर पगको ऊपर रखता है। ऊपर पग इसलिये रखता है कि आकाशको थाम लूँ, जिससे दुनिया दब न जाय। ऐसे ही 'धन जोबन अरु चातुरी'—ये तो रहेंगे नहीं, तुम्हारेको ठग लेंगे, तुम्हारी उम्र खतम कर देंगे। इस वास्ते इनका अभिमान मत करो। घरवालोंको सुख पहुँचाओ। अपना सुख दो नम्बरमें। एक नम्बरमें घरवालोंका सुख। इस तरह गृहस्थमें रहते हुए आप उस परमात्म-तत्त्वको प्राप्त हो जाओगे।

गीता व्यवहारमें परमार्थ-कला सिखाती है, जिससे व्यवहार करते हुए भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाय। इसके करनेमें पहले थोड़ी कठिनताका अनुभव होगा, फिर इसमें आनन्द आयेगा। दूसरोंको सुख देते-देते

सुख देनेकी एक शौक लग जाती है। दूसरोंको आराम देते-देते आराम देनेकी भी एक शौक लग जाती है। फिर सुख-आराम देना सुगम हो जाता है। जैसे बच्चोंके लिये पहले अक्षरोंको पढ़ना कठिन माल्म देता है। माँ-बाप पढ़ने भेजते हैं तो भी बच्चा पढ़ने नहीं जाता। परंतु वही बच्चा जब एक-दो परीक्षामें पास हो जाता है तो फिर वह घरपर भी पढ़ता है। ज्यादा रात होनेपर माँ उससे कहती है—'बेटा! सो जा' तो वह कहता है—'नहीं माँ, मैं पढ़ायी नहीं करूँगा तो फेल हो जाऊँगा। अब वह स्वयं लग गया। पढ़ायी वही है और बच्चा भी वही है। पर प्रवेश होनेसे ही रस आता है। ऐसे ही आप पहले कठिनता भोग करके प्रवेश हो जाओ। फिर दूसरोंको सुख पहुँचानेमें आपको आनन्द आयेगा। इसको आप छोड़ सकोगे नहीं। परमात्मप्राप्तिका सीधा रास्ता है यह।

नाम-संकीर्तनका महत्त्व

(पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारीके रामकोटि-महोत्सवपर लिखे हुए भाषणसे)

[गताङ्क ७ पृष्ठ-सं० ६८७ से आगे]

जहाँ जीव समस्त गृहकर्मोंको त्यागकर उसकी ओर बढ़ता है तो उसे नाम अथवा नामीकी प्राप्ति होती है। भगवान्‌के साक्षात् दर्शन होना या निरन्तर मुखसे भगवन्नामोंका उच्चारण होते रहना—इन दोनोंमें कोई भी भेद नहीं; क्योंकि नामसे नामी भिन्न नहीं है। इसीलिये रतिमें सर्वप्रथम प्रिय-प्राप्ति होती है।

१—**प्रियतमकी प्राप्ति**—जब हम उसकी ओर बढ़ते हैं तो उसकी उपलब्धि होती है; क्योंकि उसीने कृपा करके हमें अपनी ओर आकर्षित किया है। हम उसके शब्दका अनुसरण करके ही उसकी ओर बढ़े हैं। प्रियदर्शन होनेपर भी उत्कण्ठाको तीव्र करनेके लिये रति-सुखको बढ़ानेकी प्रथम परीक्षा होती है। गोपियोंको वंशीधर श्यामसुन्दरके दर्शन तो हुए, किंतु वे उन्हें स्पर्श न कर सकीं। रमणविहारीने उनकी कठिन परीक्षा ली। किसी दूसरे भावसे नहीं, केवल दृढ़ता स्थिर करनेके लिये। नामकी उपलब्धि होनेपर भी नामको ही सर्वश्रेष्ठ समझे। इसलिये मान-प्रतिष्ठा आदिसे नामस्मरण करनेवालोंकी परीक्षा होती है। किंतु परीक्षा लेनेवाले ही उत्तीर्ण भी कर देते हैं। अपना तो कुछ प्रयत्न ही नहीं।

२—**प्रेमपरीक्षा**—परीक्षा लेनेवाला भी परम उदार हो तो फिर कहना क्या? गोपियोंसे भगवान्‌ने यही कहा—'क्यों आयीं? अच्छा, मुझे देखने आयीं तो अब देखकर लौट जाओ।' गोपियोंने दृढ़ता दिखायी तो परीक्षक स्वयं परीक्षा लेनेमें अनुत्तीर्ण हो गये। उनका हँस पड़ना ही परीक्षाकी गम्भीरताको मिटा देनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

'प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्।'

३—**कृतकृत्यता**—यह सब तो हुआ। नामकी—प्रियतमकी प्राप्ति हुई। मान-प्रतिष्ठासे बचकर परीक्षामें भी उत्तीर्ण हो गये, किंतु एक बड़ा विघ्न है—अपनेको कृतकृत्य मान बैठना। बस, हमें जो प्राप्त होना था सो हो गया। अब करना ही क्या? साध्य हमारी मुट्ठीमें है। प्रेममार्गमें यह सबसे प्रबल अन्तराय है। प्रेममें तो कभी तृप्ति होती ही नहीं। उसमें तो सदा अतृप्ति ही बढ़ती है। प्रतिक्षण उत्कण्ठाका बढ़ना ही प्रेमका स्वरूप है। प्रेमकी अग्निकी लपट कभी शान्त नहीं होती, वह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही जाती है। उसे बढ़ानेके ही लिये प्रेममें विरह उत्पन्न करते हैं।

४--**विरह**--जिस प्रेममें विरह नहीं, वह निर्जीव प्रेम है। प्रेम अग्नि है तो विरह ईंधन है। ज्यों-ज्यों विरह-ईंधन पड़ेगा त्यों-त्यों प्रेमकी ज्वाला अधिकाधिक प्रज्वलित होती जायगी। इसीलिये, उनके सौभग-मदको चूर्ण करनेके लिये प्यारे उससे दूर हो गये, छिप गये। भगवन्नामकी जो इतनी ऊँची सीढ़ीपर चढ़ गये हैं, उन्हें अनुभव होगा कि वे इच्छा होनेपर भी भगवन्नामका उच्चारण नहीं कर सकते। उन्हें पता नहीं; क्योंकि नामसंकीर्तन आदिसे कभी ऐसी विरक्ति हो जाती है। नामरूप-ब्रह्म उनसे दूर चला जाता है, अन्तर्हित हो जाता है।

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ४८)

५--**अन्वेषण**--प्रिय-वियोग होनेपर उसका अन्वेषण करते हैं। अन्वेषण भी बाहर! कैसा पागलपन है। जिसका सम्बन्ध प्राणोंसे है, जो आत्माका भी आत्मा है, उसे खोजते हैं वृक्षोंमें, लताओंमें! कारण तो अपने अंदर है अहम्मन्यता, और हम दोष देते हैं परिस्थितियोंको। इसी कारण हमारा साध्य हमसे दूर हो गया। भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर गोपियोंने यही किया—वे वृक्षोंसे पूछती फिरीं। पशु-पक्षियोंसे, हिरनोंसे, यमुनासे और न जानें किस-किससे पूछा। किंतु बाहरी चीजें भीतर रमण करनेवाले आत्मारामका रमणविहारीका पता भला कैसे बता सकती हैं? किंतु प्रेम बुद्धिमानोंकी वस्तु तो है नहीं। वह तो पागलोंका पेय है, बावरोंकी वारुणि है, मस्तिष्कहीन सिड़ी लोगोंकी मादक मदिरा है। बाह्य-अन्वेषणमें जब सर्वत्र निराशा होती है, तब तन्मयता आती है।

६--**तन्मयता**--अपनेमें और अपने प्रियतममें कोई भेद नहीं दीखता। उसीके भावमें भावित होकर चेष्टाएँ होने लगती हैं। बिना इच्छाके गोपियोंके द्वारा भी भगवान्‌की अनेक लीलाएँ उन्मादावस्थामें स्वतः ही हुईं। वे बिल्कुल उनमें ही मिल गयीं, उन्हींकी-सी चेष्टा करने लगीं तथा उन्हींका नाम गायन करने लगीं। संसार उनकी दृष्टिमें रहा ही नहीं। अपने प्यारेके अतिरिक्त सम्पूर्ण संसारका उनके लिये अत्यन्ताभाव ही हो गया। यह दृढ़ भावनाकी अन्तिम अवस्था है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥
(श्रीमद्भा० १० । ३० । ४४)

७--**अन्य साधनहीनता**--अच्छा, जब ऐसी दशा हो गयी तो बाह्यान्वेषण स्वतः ही बन्द हो गया। अब तो दृष्टि अन्तर्मुखी हो गयी। अपने श्यामसुन्दरको बाहर नहीं खोजना है, कहीं दूर भी नहीं जाना है। जहाँ थे, जहाँसे आरम्भ किया, फिर वहीं आना है। अन्य साधनोंमें साध्यकी प्राप्ति हो जानेपर साधन व्यर्थ हो जाते हैं। घड़ा बननेपर चाक, दण्ड, सूत सब पृथक् पड़े रह जाते हैं। तेल निकलनेपर कोल्हू, बैलोंका कोई प्रयोजन नहीं। वस्त्र बन जानेपर करघा, कंघी सब पृथक् हो जाते हैं, किंतु इस नामसंकीर्तनमें, इस प्रेम-साधनमें यह बात नहीं—जो साधनावस्थामें है वही साध्यावस्थामें। नाम ही साधन है, नाम ही साध्य है। जिस साधनरूपी नामसे साध्यरूपी नामको पाया, वह सिद्धावस्थामें भी ज्यों-का-त्यों बना रहता है—उसकी मिठास बढ़ जाती है।

गोपियोंने भटकना छोड़ दिया। जहाँसे चली थीं, वहीं आ गयीं और आकर अपने प्रियतमके साक्षात्कारके लिये सब मिलकर श्रीकृष्ण-नामका सङ्कीर्तन-गायन करने लगीं—**'समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः'** जप-स्वाध्याय आदि एक ही कर सकते हैं। गुणकीर्तन, नामकीर्तन भी अकेले कर लेते हैं। किंतु संकीर्तन तो सब भक्त मिलकर ही करते हैं। इसीलिये कहा—**'समवेताः-संघशः'** करने लगीं। उस श्रीकृष्ण-कीर्तनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं था। केवल **'तदागमनकाङ्क्षिताः'** हमें श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो।'

किंतु श्रीकृष्ण सरल तो हैं नहीं। वे बड़े टेढ़े हैं—तीन जगहसे टेढ़े हैं। पैर उनके टेढ़े, कमर टेढ़ी, मुख टेढ़ा। वे ऐसे मिलकर चिल्लानेसे प्रकट होनेवाले हैं नहीं। उनके लिये हृदयमें कसक चाहिये। फिर वे साधारण गानेसे रीझते भी नहीं। उनके लिये चाहिये प्रकृष्ट गायन। साधारण रोने-धोनेसे वे पसीजनेवाले नहीं, उनके लिये हृदयके समस्त दरवाजे खोलकर प्रलाप होना चाहिये। वह प्रलाप भी एक-दो तरहका नहीं, भाँति-भाँतिका हो, रुदन भी बेसुरा न हो। रुदन भी हो और सुरीला भी। कैसी विचित्र बात है। प्रेमकी सभी बातें अटपटी होती हैं। रुदन भी और सुस्वर भी। पानीमें आग लगानेके समान है। फिर उस गायन, प्रलाप और रुदनमें कोई भी अन्य लालसा नहीं होनी चाहिये। एकमात्र श्रीकृष्णदर्शन-लालसासे ये सब क्रियाएँ हों, तब उन प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। तब वे नामी आविर्भूत होते हैं। फिर वे हँसते हुए सामने प्रकट होते हैं। गोपियोंके सामने इसी तरह उनके संकीर्तन-गायनसे प्रसन्न होकर वे हँसते हुए प्रकट हुए—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२)

यहाँतक रासपञ्चाध्यायीमें संकीर्तनके साध्य-साधनका स्वरूप है। इससे आगे रमण, परमानन्द-निवृत्ति आदि स्थिति हैं। किंतु वे अनुभवगम्य हैं। वाणीका विषय नहीं—इसलिये यहींतक वर्णन किया है।

यह स्थिति बड़े भाग्यसे धीरे-धीरे क्रमशः बड़े भाग्यशाली महापुरुषोंको प्राप्त होती है, किंतु इसका एकमात्र साधन है, जैसे भी हो, भगवान्‌के नामोंका कीर्तन करना।

आपका भगवन्नाम-सङ्कीर्तनमें मन नहीं लगता, बेमन ही कीजिये, करनेमें जिह्वा समर्थ नहीं हो तो कानोंसे श्रवण ही कीजिये। श्रवण करनेमें रुचि नहीं हो तो हठ-पूर्वक ही सुनिये। अवसर नहीं हो तो सोते, बैठते—जब भी समय मिले तभी कीजिये। थोड़ा ही कीजिये। और कुछ न भी बने तो सोते समय, जागते समय श्रीराम, नारायण, हरि, कृष्ण, विष्णु इन्हीं नामोंको जितनी बार कह सकें, कहिये। इच्छासे-अनिच्छासे, श्रद्धासे-अश्रद्धासे, दम्भसे-पाखण्डसे, सङ्केतसे, परिहाससे—जैसे भी भगवन्नाम लिया जाय, नाम कभी निष्फल नहीं जाता—वह तो पापोंका नाश करेगा ही। बहुत-से लोग कहते हैं—लोकदिखावेके रामनामसे क्या होता है? अरे, होता क्या है, लोकदिखावेको हम कितने काम करते हैं। गरमीमें भी बिना इच्छाके कोट, बूट, टोप पहनते हैं। इच्छा न होनेपर भी हम अपने धर्म-सम्प्रदायसे इतर लोगोंके साथ भोजन आदिका संसर्ग रखते हैं। जब इन व्यर्थके और विरोधी कामोंको लोकदिखावेके लिये करते हैं तो यदि कीर्तन भी कोई लोकदिखावेको करे तो क्या हानि? रुपयेमें सोलह आने लाभ न करेगा, एक आने करेगा! न करेगा तो सकाम कर्मोंकी तरह हानि तो करेगा नहीं। आज लोकदिखावेको करते हो, कल भगवान्‌की कृपा हो जायगी तो वही प्रेमके रूपमें परिणत हो जायगा। तुम जैसे भी करते हो, प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-कीर्तन करते रहो। भगवान् कृपा न करेंगे तो कम-से-कम हँस तो जायँगे कि देखो, यह धूर्त मेरे साथ भी दम्भ करता है।

एक मुसलमान सज्जन नमाज पढ़ते थे। नमाज पढ़ते-पढ़ते उनके घुटनोंमें घट्ठे पड़ गये थे। एक दिन कोई ऊँचे मुसलमान संत आये, उन्होंने कहा—'महात्मन्! आप जो इतनी नमाज पढ़ते हैं, कल हजरत मुहम्मद-साहबके मुझे साक्षात् दर्शन हुए। उन्होंने बताया—'परमात्मा तुम्हारी नमाजको मंजूर नहीं करते।'

इतना सुनते ही वे प्रसन्नताके मारे उछलने लगे। उन संतने कहा---'इस बातको सुनकर आपको तो दुःख होना चाहिये कि इतनी नमाज पढ़ते-पढ़ते आपके घुटनोंमें घट्ठे पड़ गये, फिर भी वे भगवान्‌के यहाँ मंजूर नहीं होतीं।'

उन्होंने उत्तर दिया---'मंजूर करना न करना तो भगवान्‌का काम है, उसमें हमारा कुछ वश ही नहीं। किंतु मुझे प्रसन्नता इस बातसे हुई कि भगवान् मेरी नमाजको देखते तो हैं, उन्हें पता तो है कि मैं नमाज पढ़ता हूँ। बस, मेरे लिये इतना ही बहुत है। उसी समय आकाशवाणी हुई कि 'तुम्हारी सब नमाजें मंजूर हैं।'

अच्छे कर्मोंका फल कभी नष्ट नहीं होता, फिर भगवन्नाम तो किसी भी तरह क्यों न लिया जाय---वह कभी व्यर्थ होता ही नहीं।

अभी हालमें बंगालमें श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी नामके बहुत ऊँचे भगवद्भक्त महात्मा हो चुके हैं। उनकी जीवनीमें आता है कि एक बार वे श्रीवृन्दावनकी परिक्रमा कर रहे थे कि उन्हें एक भूतकी छाया दिखायी दी। वह माला-झोली लेकर भगवन्नामका जप करता हुआ उनके पीछे-पीछे परिक्रमा कर रहा है। महात्माजी-को बड़ा आश्चर्य हुआ कि एक भगवन्नामसे करोड़ों पाप नष्ट होते हैं, फिर इसे भूतयोनि क्यों प्राप्त हुई और इस योनिमें भी यह नाम-जप करता है! उन्होंने उसपर मन्त्रोंका जल छिड़ककर पूछा। भूतने बताया---'मैं अमुक मन्दिरमें प्रबन्धक था। मैंने भगवान्‌के द्रव्यकी चोरी की, उसीके पापसे मुझे भूतयोनि प्राप्त हुई। श्रीवृन्दावन-परिक्रमा और नाम-जपका मेरा अभ्यास पड़ा हुआ था। वह अभ्यास इस भूतयोनिमें भी नहीं छूटा है। यदि आप अमुक स्थानसे इतने रुपये भगवान्‌के कोषमें जमा करा दें और मेरे नामसे श्रीभागवत-सप्ताह करा दें तो मैं इस पापयोनिसे छूट सकता हूँ।' महात्माजीने ऐसा ही किया और वह प्रेतयोनिसे छूट गया।

इस कथासे तो यही निकलता है कि बिना मनके केवल स्वभाववश राम-राम जपनेसे और कुछ लाभ नहीं हुआ, पर उसे प्रेतयोनि वृन्दावनमें तो प्राप्त हो ही गयी। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो नामजप और श्रीवृन्दावन-परिक्रमा उसकी व्यर्थ नहीं हुई। उसीके प्रभावसे तो उसे श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी-जैसे महापुरुषका दर्शन और सत्संग प्राप्त हुआ और सत्संगसे उसकी सद्गति हो गयी। घोर पापका फल भोगनेपर भी नामजपके प्रभावसे उसकी दुर्गति नहीं हुई। इसीलिये कहा है कि द्रव्य, देश तथा मन आदिसे किये हुए समस्त कलिकालके दोषोंको चित्तस्थित भगवान् पुरुषोत्तम नाश कर देते हैं। उनके नाम-गुण-श्रवणसे, संकीर्तनसे, ध्यानसे, पूजा-आदर आदिसे मनुष्योंके लाखों जन्मोंके पाप नाश हो जाते हैं---

पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान्।
सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान् पुरुषोत्तम॥
श्रुतः संकीर्तितो ध्यातः पूजितश्चादृतोऽपि वा।
नृणां धुनोति भगवान् हृत्स्थो जन्मायुताशुभम्॥

राम-नाम-जपकी महिमा

चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लखन समेत। राम नाम जप जापकहि तुलसी अभिमत देत॥
पय अहार फल खाइ जपु राम नाम षट मास। सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

उद्धव-संदेश

(९)

(लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी लिट्०)

[अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल]

[गताङ्क ७ पृष्ठ-सं० ६९० से आगे]

कोई भी वस्तु सूर्यके प्रकाशमें ही दृष्टिगोचर होती है। गहरे अन्धकारमें कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। शास्त्र-ज्ञान भी दिवाकर-रश्मितुल्य होता है। ज्ञान-किरण-सम्पातसे ही समस्त सत्य तथ्य स्पष्ट अनुभवमें आते हैं और भ्रम एवं प्रमादका अन्धकार मिटता है।

नन्दराज श्रीकृष्णके लिये आँसू बहा रहे हैं। उद्धव जानते हैं कि मनुष्य मोहहेतु ही क्रन्दन करता है और मोहकी उत्पत्ति होती है भ्रमसे। तत्त्वज्ञानका उदय होते ही भ्रम समाप्त हो जाता है और भ्रमके मिटते ही मोह भी दूर हो जाता है। मोहके अपनोदनसे ही क्रन्दनका अशान्त और शोकाकुल वातावरण स्वच्छ बनता है। इसीलिये उद्धव नन्दराजके सम्मुख शास्त्रीय तत्त्वज्ञानका प्रदीप प्रज्वलित कर उनके मोहनाशकी चेष्टा करने लगे।

उद्धव शास्त्रकी साक्षात् मूर्ति हैं और हैं ज्ञानालोकके साधक। उनकी निश्चित मान्यता है कि सत्यका दर्शन ज्ञानालोकसे ही सम्भव है। किंतु उद्धव इस भेदको नहीं जानते कि कोई-कोई वस्तु अन्धकारमें ही दिखायी पड़ती है। पृथ्वीके पृष्ठतलपर जितने पदार्थ हैं वे प्रकाशमें ही दीखते हैं। किंतु अनन्त गगनके विस्तारमें जो असंख्य तारकराशि विराजित हैं, उन्हें अन्धकार ही नेत्रगोचर कराता है। जगत्में यदि केवल प्रकाश ही व्याप्त होता तो हम आकाशस्थित अगणित नक्षत्र-मण्डलीके विचित्र राज्यका संवाद कभी भी नहीं जान पाते।

सूर्य अस्त होनेपर जब अन्धकार छा जाता है, तभी नक्षत्रोंका रूप प्रस्फुटित होता है। यदि किसी व्यक्तिके जीवनका यह व्रत हो कि वह सर्वदा उत्तर दिशामें ध्रुव नक्षत्रपर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करके रखेगा तो सूर्य-प्रकाश उसके इस व्रत-रक्षामें बाधक सिद्ध होता है। प्रकाशाकाङ्क्षी मनुष्यकी तपस्यामें प्रकाशका गौरवस्तम्भ ही बाधक सिद्ध होगा।

गोपराज नन्द एकमात्र इस भावनासे कि 'कृष्ण मेरा पुत्र है', निरन्तर उत्तर दिशामें दृष्टि जमाये हुए हैं और निर्निमेषदृष्टिसे कृष्ण-ध्रुवनक्षत्रको देख रहे हैं। शास्त्र-सूर्यकी मयूखमाला उनके लिये नितान्त ही अवाञ्छित वस्तु है। शास्त्रनिपुण उद्धवकी ज्ञान-सम्पत् नन्दराजके लिये केवल अबोध्य ही नहीं है, बाधक भी है। 'मैं कृष्णका पिता हूँ'—यह निविड़ अनुभूति नन्दराजके सम्पूर्ण हृदयमें ओत-प्रोत व्याप्त है। इससे भिन्न किसी अन्य भावनाके प्रवेशके लिये उनके हृदयमें स्थान ही नहीं है।

उद्धवने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें एक सुदीर्घ भाषण दे डाला। उद्धवके स्वकीय अनुभवसे पुष्ट और शास्त्रीय विचारके गौरवसे पूर्ण यह भाषण अनवद्य है। किंतु नन्दराजके चित्तपर उसकी प्रतिक्रिया उद्धवके आशानुरूप नहीं हुई। तत्त्वकथा सुनकर नन्दराज बोल उठे—'उद्धव! तुम वयमें बालक होते हुए भी मेरे अन्तरकी दृढ़ धारणाके अनुसार तुम बुद्धिमें प्रवीण थे। किंतु अब मालूम पड़ा कि धारणा गलत थी। तुम जिस प्रकार वयसमें बालक हो, बुद्धिमें भी तद्रूप ही हो।'

तुम बातें तो बहुत जानते हो उद्धव, किंतु यह कतई नहीं जानते कि किसको क्या कहना चाहिये। तुमने मुझे और यशोदाको भाग्यवान् और भाग्यवती

कहा है। यदि तुममें साधारण-सी बुद्धि भी होती तो तुम अपने मुखसे ऐसी बातका उच्चारण भी नहीं कर सकते थे। मैं निश्चितरूपसे जानता हूँ कि इस विश्व-संसारमें हमलोगों-सरीखा भाग्यहीन जीव दूसरा नहीं है। इस जगत्‌में जो पुत्र-हारा है, वही भाग्यहीन है। और जिसके कृष्णसदृश पुत्ररत्न दूर हो जाय, वह तो नितान्त ही हतभाग्य है।

उद्धव ! पुत्र तो बहुतोंके होते हैं, किंतु कृष्ण-सदृश पुत्र किसीको कभी हुआ है या होगा ? इतना सुन्दर, मधुर, हास्यमय, लास्यमय, प्रीतिमान्, बुद्धिमान्, चञ्चल, नटवर, मुरलीमनोहर, जिसकी भाषा ऐसी प्रेमपगी, श्वास ऐसा मधुसुगन्धी हो, निखिल विश्वमें कहीं भी कभी भी न तो आजतक हुआ है न होगा। जो ऐसे महाधनको खोकर उस रत्नसम्पद्‌के अभावमें आकुल-आर्तनाद कर रहे हों, उनके सम्मुख ही तुम उन्हें महाभाग्यवान् कहते हो तो उनका इससे निकृष्ट मर्मान्तक, विद्रूपमय परिहास और क्या होगा ?

उद्धव ! ऐसा न कहकर यदि तुम कहते कि इन जैसा हतभाग्य जीव जगत्‌में और कोई नहीं है, तो हम जरा सुखका अनुभव करते। हम समझते कि हमारी हृदय-वेदनाका किञ्चित् अनुभव उद्धवने भी किया है। सहानुभूतिसे वेदना कुछ हल्की पड़ती।

उद्धव ! तुमने मेरे सम्मुख भगवत्तत्त्वकी आलोचना की है। मैं शास्त्रज्ञ नहीं हूँ, स्थूल बुद्धिसे केवल इतना विश्वास करता हूँ कि भगवान् हैं। वह जगत्‌के गुरु हैं और विश्वके नियन्ता हैं। वे पुरुष और प्रकृतिके मूल कारण हैं, वे अनादि अपरिणामी सर्वेश्वर हैं। वे नारायण हैं जो नित्य शालग्राम रूपसे मेरे घरमें विराजमान हैं।

किंतु उद्धव ! तुम केवल इन नारायणके स्वरूप-तत्त्वकी बात कहकर ही शान्त नहीं हुए, सत्संग और एक अद्भुत बात भी कह गये हो। तुमने कहा है कि वह नारायण ही मेरा गोपाल है, मेरा कृष्ण है। तुमने ऐसा मन्तव्य निरे बालक होनेके कारण ही व्यक्त किया है। भगवान् क्या वस्तु है, इसका ज्ञान मैंने शास्त्राध्ययन करके तो प्राप्त नहीं किया, किंतु महान् संतोंके मुखसे सुन-सुनकर कुछ थोड़ा-सा जानता भी हूँ। नारायणके जो-जो विशेष लक्षण हैं, वे थोड़े-से मुझे भी परिज्ञात हैं। उन लक्षणोंका स्पर्श भी मेरे कृष्णको कहीं हो पाया ? तुमने ही कहा है कि नारायण निखिल विश्वके कारणके भी कारण हैं। मेरा कृष्ण तो एक क्षुद्र दुग्धपोष्य बालकमात्र है। नारायण शुद्ध, शान्त और अपापविद्ध हैं। कृष्ण दुर्मद, चञ्चल, लोभी और क्रोधी है। नारायण निर्मल, निर्दोष, शुद्ध सत्त्वगुणमय हैं। कृष्ण चोर, मिथ्याभाषी और अभिमानी है। नारायण निखिल जगत्‌के आश्रय हैं और कृष्ण तो अपने माता-पिताके ऊपर ही पूर्णतः निर्भरशील है।

उद्धव ! और कितना बताऊँ ? नारायणके साथ तो कृष्णका कोई सादृश्य ही नहीं है। नारायण सत्य-संकल्प हैं और कृष्णको मिथ्या बोलते मैंने—स्वयं सुना है। नारायण आप्तकाम हैं, क्षुधा-तृष्णासे अतीत हैं और मैंने अपने स्वचक्षुओंसे देखा है कि कृष्ण क्षुधा और तृष्णासे व्याकुल होकर अस्थिर हो जाता है। उद्धव ! नारायण हमारे प्रणम्य हैं, किंतु कृष्ण तो प्रायः ही मेरी पादुकाएँ सिरपर ढोये मेरे पीछे-पीछे फिरता रहता है। उद्धव ! हमारी तो क्या जाने भूल भी हो जाय, किंतु भगवान्‌से तो भूल नहीं हुआ करती। कृष्ण भगवान् होता तो हमें माता-पिता कहकर सम्बोधन क्यों करता ? हमारी सहायताके अभावमें अपनेको इस प्रकार असहाय क्यों मानता ? नारायणका एक भी लक्षण कृष्णमें है, यह मुझको तो नहीं दीख रहा है। हाँ, नारायणकी असीम कृपासे

यह पुत्ररत्न मिला है, यह बात निश्चितरूपसे जानता हूँ। 'कृष्ण हमारा पुत्र है' यह दृढ़ अनुभूति हमारे हृदयमें व्याप्त है। उस अनुभूतिको मिथ्या प्रमाणित कर सके, ऐसी सामर्थ्य किसी युक्ति एवं तर्कमें नहीं है।

और एक बात सुनो उद्धव! कुछ समयतकके लिये तुम्हारी बात सत्य ही मान लें कि कृष्ण मनुष्य नहीं है, स्वयं भगवान् ही हैं, तो क्या इस तत्त्व-आविष्कार-के फलस्वरूप मेरे कृष्णविहीन विरह-तापका बिन्दुमात्र भी अपनोदन हो सकता है? इसके विपरीत मैं तो देख रहा हूँ कि तुम्हारी इन बातोंने मेरी विरह-वेदनाको सहस्रगुण वर्द्धित ही किया है। हम समझते थे कि हमारा पुत्र ही खोया है—इसलिये अन्तर्वेदना कुछ विस्मृत-सी थी। अब तुमने आकर बताया कि वह केवल पुत्र ही नहीं, भगवान् भी है। अब हम समझ रहे हैं कि केवल पुत्र ही नहीं खोया, भगवान्‌को भी खो दिया। अभीतक मानते थे कि केवल एक काँचका टुकड़ा खो गया, अब तुमने बता दिया कि वह काँचका टुकड़ा नहीं—हीरा था। यह बात जानकर तो मेरी हृदयव्यथा सहस्रगुण वर्द्धित हो गयी है। उद्धव! तुम बालक हो, तभी तो तुमने घृत उड़ेल कर अग्नि-शमनकी चेष्टा की है। यह कहते-कहते गोपराज अविरल धारासे अश्रुविसर्जन करने लगे।

भक्तिकी संजीवनी भागवती कथा

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजके प्रवचनका सारांश)

[बदरीविशालकी जय]

स्कन्दपुराणमें कथा आती है कि बदरीनारायण विशाल राजाके लिये बदरीवन पधारे थे। पुण्डरीकके लिये विट्ठलनाथ पंढरपुर आये थे। जिस भक्तके लिये भगवान् आवें, वह धन्य है। बदरीस्थ नारायण तप-ध्यानका आदर्श जगत्‌को बताते हैं। वे कहते हैं कि मैं ईश्वर हूँ तो भी तप करता हूँ, ध्यान लगाता हूँ। तपश्चर्याके बिना शान्ति नहीं मिलती। जीव कठिन तपश्चर्या नहीं कर सकता, अतः श्रीभगवान् आदर्श बताते हैं। बालक जब दवा नहीं खाता तो माता स्वयं उसे खाकर दिखाती है, जिससे बालक समझे कि दवा भी खानेकी एक वस्तु है।

श्रीबदरीनारायणके मन्दिरमें लक्ष्मीजीकी मूर्ति मन्दिरके बाहर है। स्त्री-बालकादिका सङ्ग तपश्चर्यामें विघ्नरूप है। यहाँ स्त्रीकी तत्त्वतः निन्दा नहीं, कामकी निन्दा है। किसीको पत्नी और बालकोंका त्याग नहीं करना है, इसलिये कहना पड़ता है कि पत्नी और बच्चोंके साथ रहकर घरमें ही भगवान्‌का भजन करो। काम और कामनाके वशीभूत मत बनो, कर्तव्यकर परिवारका पालन करते हुए तपस्या करो।

विशालपुरीमें जहाँ सनत्कुमार विराजते थे, वहाँ एक दिन नारदजी घूमते हुए आ गये। वहाँ सनकादि ऋषियोंके साथ नारदजीका मिलन हुआ। नारदजीका मुख उदास देखकर सनकादिने उनसे उदासीका कारण पूछा कि आप चिन्तामें क्यों हैं? **'कुतश्चिन्ता गुरो?'** आप हरिदास हैं। **'श्रीकृष्णका दास, कभी होवे नहीं उदास'**। वैष्णव तो सदा प्रसन्न रहता है। जो चिन्ता न करे वही तो वैष्णव है। वैष्णव तो प्रभुका चिन्तन करता है। फिर भी आप प्रसन्न क्यों नहीं हैं? नारदजीने कहा कि मेरा देश दुःखी है, सत्य, तप, दया, दान नहीं रहे। मनुष्य बोलता है कुछ पर उसके मनमें कुछ और ही होता है और वह करता भी कुछ और ही है। और, कुछ क्या कहूँ? **'उदरम्भरिणो जीवाः'**

अर्थात् जीव केवल अपने-अपने पेट भरनेवाले और स्वार्थी हो गये हैं।

समाजमें किसीको भी सुख-शान्ति नहीं है। मैंने अनेक स्थानोंका परिभ्रमण किया। फिर भी मुझे शान्ति नहीं मिली। आज सारा देश दुःखी क्यों हो रहा है? नारदजीने इसके कई कारण बताये हैं। धर्म और ईश्वरमें जबतक आस्थावान् नहीं बने, तबतक देश सुखी नहीं हो सकता। जिसके जीवनमें धर्मका स्थान प्रधान नहीं है उसे जीवनमें कभी शान्ति नहीं मिलती। धर्म और ईश्वरको भूलनेवाला मानव कभी सुखी नहीं होता। जगत्में अब धर्म रहा ही कहाँ है?

नारदजीने बड़े दुःखसे कहा कि अब इस जगत्में सत्य नहीं रहा—**'सत्यं नास्ति।'** जगत्में असत्य बहुत बढ़ गया है, किंतु असत्यके समान कोई पाप नहीं है। उपनिषदोंमें कहा है कि असत्यभाषीको न केवल पाप ही लगता है, अपितु उसके पुण्योंका भी क्षय होता है। यदि सच्चा आनन्द पानेकी इच्छा रखते हो तो सत्यमें निष्ठा रखो। असत्य बोलनेवाला व्यक्ति न तो कभी सुखी हुआ है और न कभी होगा।

मितभाषी बनोगे तो सत्यभाषी बन सकोगे।

इसी प्रकार मनको पवित्र रखना चाहिये। मनुष्य कपड़ोंको, शरीरको तो स्वच्छ रखता है, किंतु मनको स्वच्छ नहीं रखता। मनको बिल्कुल पवित्र रखो, क्योंकि मन तो मरणके बाद भी साथ जायगा।

जगत्में कहीं भी नीतिका दर्शन नहीं होता है। नीति और अनीतिसे बहुत कुछ धन-सम्पत्ति जुटाना और कुमार्गमें खर्च भी करना यहीं देखा जाता है। कुटुम्ब-सुखके उपरान्त भी कोई सुख है या नहीं, इसका विचार भी मनुष्य नहीं करता। वह तो यही सोचता है कि धन-सम्पत्तिसे मैं अपने कुटुम्बको सुखी करूँगा। अपनी इन्द्रियोंका वह इतना दास बन जाता है कि उसे कोई पवित्र विचार आता ही नहीं है। शरीर और इन्द्रियोंके सुखमें वह ऐसा फँसा है कि शान्तिसे विचार भी नहीं कर पाता कि सच्चा और श्रेष्ठ आनन्द कौन-सा है और कैसे मिल सकता है। जीवनमें जबतक कोई पवित्र लक्ष्य निश्चित नहीं होगा, तबतक पापकर्म नहीं रुकेंगे। जो लक्ष्यको दृष्टिमें रखता है, वही पापसे बच सकता है।

मनुष्यको अपने जीवनका लक्ष्य मालूम नहीं है। वह मन्द-बुद्धि होकर करने योग्य कामको भी नहीं करता।

ज्ञानका विक्रय होने लगा है। ज्ञानका विक्रय मत करो। ब्राह्मणको चाहिये कि वह निष्कामभावसे जगत्को ज्ञानका दान करे। अन्नदानसे भी ज्ञानदान श्रेष्ठ है; कारण ज्ञानसे सदा शान्ति मिलती है।

मनुष्यकी भावना जबसे बिगड़ी है तबसे विश्वमें उसका जीवन भी विकृत हो गया है।

संसारमें मुझे कहीं भी शान्ति नजर नहीं आयी। इस प्रकार कलियुगके दोष देखता हुआ घूमता-फिरता मैं वृन्दावनमें आया। वहाँ एक कौतुक देखा। एक युवतीके पास दो पुरुष मूर्छामें पड़े हुए थे। वह स्त्री चारों ओर देख रही थी। उस स्त्रीने मुझे (नारदजीको) बुलाया। मैं उसके पास गया। (साधु पुरुष किसी स्त्रीके पास नहीं जाते, अतः नारदजी बिना बुलाये उस स्त्रीके पास नहीं गये।) युवतीने मुझसे कहा कि ठहरो—**'क्षणं तिष्ठ।'**

दूसरोंके काम सिद्ध करोगे तो तुम साधु बनोगे—**'साध्नोति परकार्यमिति साधुः।'** (उणादि-१। १) जो समयको सुवर्णसे भी अधिक मूल्यवान् माने वह साधु है। जिसने समयकी कोई कीमत नहीं की वह अन्तकालमें खूब पछताता है। किसीका एक भी क्षण नहीं बिगड़ना चाहिये।

अतः जब एक क्षण ठहरनेके लिये कहा गया तो मैंने उस युवतीसे पूछा कि देवीजी ! आप कौन हैं ? उस युवतीने कहा—'मेरा नाम भक्ति है। ज्ञान और वैराग्य—ये मेरे दो पुत्र हैं। अब ये वृद्ध हो गये हैं। मेरा जन्म तो द्रविड़ देशमें हुआ है।' महान् आचार्य दक्षिण भारतमें प्रकट हुए थे। श्रीशंकराचार्यजी और रामानुजाचार्यजी दक्षिणमें उत्पन्न हुए थे। दक्षिण देश भक्तिका देश है।

'कर्णाटकमें मेरा परिपालन हुआ और मेरी वृद्धि भी वहीं हुई।' आचार और विचार जहाँ शुद्ध होते हैं वहाँ भक्तिको पुष्टि मिलती है। विचारोंके साथ-साथ आचार भी शुद्ध होने चाहिये। कर्णाटकमें आज भी आचारकी शुद्धि देखनेमें आती है। भगवान् व्यासजीको कर्णाटकके प्रति कोई पक्षपात नहीं था। परंतु जो सच था उसीका उन्होंने वर्णन किया है। अब भी कर्णाटकमें प्रायः लोग निर्जला एकादशी ही करते हैं।

'मुझे एक-एक कर सभी इन्द्रियाँ भगवान्को अर्पित करनी हैं, ऐसी भावनासे एकादशीका व्रत रखो।' (भक्तिने आगे कहा—)

'महाराष्ट्रमें किसी-किसी स्थानपर मेरा सम्मान हुआ। महाराष्ट्रमें कहीं-कहीं भक्तिको सम्मान मिला है। पंढरपुर जैसे स्थलपर भक्तिका दर्शन होता है। गुजरातमें तो मैं जीर्ण हो गयी हूँ—**'गुजरे जीर्णतां गता।'** गुजरात्में मैं अपने दोनों पुत्रोंके साथ वृद्ध हो गयी। धनका दास प्रभुका दास नहीं हो सकता।' गुजरात काञ्चनका लोभी हो गया है, अतः भक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी है।

भक्तिके नौ प्रधान अङ्ग हैं। इसमें प्रथम है—श्रवण। केवल कथा सुन लेनेसे भक्ति पूरी नहीं होती है। जो सुना है उसका मनन करो। मनन करके जितना जीवनमें उतार सको उतारो, भागवत-श्रवण उतना ही सार्थक हुआ कहा जायेगा। कथा सुननेसे पाप जलते हैं, परंतु मनन करके जीवनमें उतारनेसे तो मुक्ति मिलती है।

श्रवण-भक्ति छिन्न-भिन्न हो रही है; क्योंकि मनन नहीं रहा। मनन नहीं करनेसे श्रवण सफल नहीं होता। मननके अभावमें श्रवणभक्ति क्षीण होती जा रही है।

कीर्तनभक्ति भी नहीं रही; क्योंकि कीर्तनमें भी कीर्ति और कञ्चनका लोभ आ गया है, और तभीसे कीर्तनभक्ति नष्ट हो गयी है।

ज्ञानी पुरुषोंको अपमानसे भी सम्मान अधिक बुरा लगता है। धनके लोभकी अपेक्षा कीर्तिका मोह छूटना बड़ा कठिन है। कीर्तिका मोह तो ज्ञानीको भी सताता है। मैं अपने मनको समझाता हूँ। जबतक तुम अपने मनको स्वयं न समझाओगे तबतक वह मानेगा ही नहीं। वह अभ्यास और वैराग्यसे ठीक रास्तेपर आता है।

कथा-कीर्तनमें अनायास ही जगत्की विस्मृति हो जाती है। मनुष्य सब कुछ छोड़कर जब माला लेकर बैठता है तब भी उसे जगत् याद आता है। कथामें जब बैठे हो तो संसार-व्यवहारके विचारोंको मनसे निकाल दो। मैं अपने श्रीकृष्णके चरणोंमें बैठा हूँ, ऐसी भावना रखो। कीर्तन-भक्ति निष्काम होनी चाहिये। संत तुलसीदासजीने कहा है—**'स्वान्तः सुखाय'**—मैं अपने सुखके लिये कथा करता हूँ। दूसरोंको क्या सुख मिलता है, इसकी मुझे कोई खबर नहीं है।

वंदन-भक्ति अभिमानके कारण चली गयी। अभिमान बढ़ते ही वंदन-भक्तिका नाश हुआ। सबमें श्रीकृष्णकी भावना रखकर सबको वन्दन करो। वंदन

करनेसे विरोध नष्ट होता है । बड़ोंका आशीर्वाद मिलता है ।

भक्त नरसिंहने भक्तका लक्षण बताते हुए कहा है कि **'सकल लोकमां सहुने वंदे'**—वही सच्चा वैष्णव है जो वंदन करता है, जो वंदन कराना चाहता है वह वैष्णव नहीं है । मनके भीतर जबतक अहं भाव रहेगा, तबतक भक्तिकी वृद्धि नहीं होगी । वंदन अहं भावके अभाव होनेसे होता है ।

आजकल तो लोग देहकी बहुत पूजा करते हैं । श्रीठाकुरजीकी सेवाके लिये, पूजाके लिये अब उनको समय नहीं मिलता है । देहपूजा बढ़ी कि देवपूजा गयी । लोगोंने भाँति-भाँतिके साबुन बनाये हैं । चाहे जितना साबुन मलो किंतु देहका जो रंग है वही रहेगा । परमात्माने जो रंग दिया है वही सच्चा रंग है और वही ठीक भी है । मनुष्य बहुत विलासी हो गया है, इस कारण ही अर्चन भक्तिका ह्रास हुआ है । शरीरको लोग बहुत सजाने-सँवारने लगे हैं, तभीसे अर्चन भक्ति चली गयी । अतः जीवन सादा रखो ।

इसी प्रकार भक्तिके एक-एक अंगका विनाश हुआ है, अर्थात जीव ईश्वरसे विभक्त (अलग) हुआ है—श्रीठाकुरजीसे विमुख हुआ है । बुद्धिका जब बहुत अतिरेक होता है तो भक्तिका विनाश होता है । भक्ति छिन्न-भिन्न हुई तो जीवन भी विभक्त हो गया । भक्ति धर्मका रसमय रूप है ।

भक्तिके दो बालक हैं—ज्ञान और वैराग्य । भक्तिका आदर ज्ञान और वैराग्यके साथ करो । ज्ञान और वैराग्य मूर्छित होते हैं तो भक्ति भी रोती है । कलियुगमें ज्ञान और वैराग्य क्षीण होते चले जाते हैं, बढ़ते नहीं हैं ।

जबसे पुस्तकें ज्ञानका साधन बनी हैं, तबसे ज्ञानका अभाव हो रहा है । नारदजी कहते हैं कि ज्ञान और वैराग्यको मूर्छा क्यों आयी, यह मैं जानता हूँ । इस कलिकालमें जगतमें अधर्म बहुत बढ़ गया है । इसीसे ज्ञानको मूर्छा आयी है । इस वृन्दावनकी प्रेमभूमिमें तुमको पुष्टि मिली है । कलियुगमें ज्ञान और वैराग्यकी उपेक्षा होती है, अतः वे निरुत्साहित होकर वृद्ध और जीर्ण हो गये हैं ।

ज्ञान और वैराग्यके साथ मैं भक्तिको जाग्रत करूँगा । ज्ञान-वैराग्यके साथमें भक्तिका प्रचार करूँगा । नारदजीने ज्ञान-वैराग्यको जगानेके लिये अनेक प्रयत्न किये । परंतु बात कुछ बनी नहीं । वेदोंके अनेक पारायण किये पर ज्ञान-वैराग्यकी मूर्छा नहीं गयी ।

उपनिषदों और वेदोंके मननसे अपने हृदयमें क्वचित् ज्ञान और वैराग्य जागता है । परंतु वे फिरसे मूर्छित हो जाते हैं ।

वेदके पारायणसे भी वैराग्य हो जाता है, परंतु वह स्थायी नहीं रहता । श्मशानभूमिमें जब चिता जलती रहती है तो उसे देखकर कई व्यक्तियोंको वैराग्य होता है । परंतु वह वैराग्य टिकाऊ नहीं होता ।

काम-सुखको भोग लेनेके बाद भी बहुतोंको वैराग्य आता है । संसारके विषयके उपभोग कर लेनेके बाद बहुतोंको वैराग्य आता है । परंतु वह भी स्थायी नहीं होता । विषयभोगके बाद अरुचि होती है, परंतु वह अरुचि विवेक और वैराग्यसे रहित होनेके कारण टिकती नहीं है ।

कलियुगमें तो श्रीकृष्ण-कथा और श्रीकृष्ण-कीर्तनसे ही ज्ञान और वैराग्य जाग्रत होते हैं और उसीसे वे टिकाऊ भी होते हैं ।

आड़े-तिरछे ये भगवान्

(लेखक—श्रीव्रजगोपालदासजी अग्रवाल)

मंदिर-मूरति रंग-रँगोली—

बात उन दिनोंकी है, जब कृष्ण द्वारकामें रहते थे। एक दिन रातको वे सपनेमें "हे राधे, हे राधिके" कहकर रोने लगे। रोनेकी आवाजसे उनकी सत्यभामा-रुक्मिणी आदि रानियाँ जग गयीं।

सुबह होनेपर रानियोंने इस बातपर चर्चा चलायी। वे सब रूप-गुणमें एक-से-एक बढ़-चढ़कर थीं। उनके रहते कृष्ण एक अन्य महिलाको इतना चाहें कि सपनेंमें भी उसका नाम ले-लेकर रोयें, यह बड़ी अजीब बात थी! रानियाँ यह जाननेको उत्सुक हो गयीं कि ऐसी भाग्यवती है कौन।

एक बोली—'सुना है कि वृन्दावनमें राधा नामकी एक ग्वालिनी थी। वह और हमारे स्वामी एक-दूसरेके बिना रह नहीं सकते थे।'

दूसरी बोली—'अगर ऐसी बात है तो माँ रोहिणी-(बलरामकी माँ-) से सब पता चल जायेगा। वे तो वृन्दावन रही हैं, अपने लाड़लेके सारे क्रिया-कौतुक जानती होंगी।'

बस, रानियोंने रोहिणिजीको जा पकड़ा। बोलीं—'माँ, अपने बेटेकी व्रज-लीलाके बारेमें बताओ। सब कुछ बताओ, छिपाना नहीं।' रोहिणी माँ बड़े चक्करमें पड़ गयीं कि माँ होकर बेटेकी हर बात कैसे बताऊँ? मगर जब रानियाँ नहीं मानीं, तो वे बोलीं—'अच्छा बताऊँगी। कृष्ण-बलरामको राजसभा जाने दो।'

अन्तःपुरमें माँ रोहिणी रानियोंको कृष्णकी व्रज-लीला सुनाने बैठ गयीं। व्रज-लीला बड़ी अद्भुत और अलौकिक चीज है। वह कृष्णको बड़ी प्रिय है। उसमें ऐसा आकर्षण है कि कृष्ण खिंचे चले आते हैं। कहीं व्रज-लीलाका वर्णन हो रहा हो, बस वे खिंचे चले आयेंगे। राजदरबारमें दोनों भाई बेचैन हो उठे। ऐसा लगा मानो कोई चीज उन्हें खींच रही है। वे दोनों राजसभा छोड़कर चल पड़े।

महलके पास पहुँचे। देखा कि बहन सुभद्रा द्वारपर बैठी हैं। वे अन्दर जाने लगे तो बहनने रोक दिया। बोली—'आज मैं पहरेदार हूँ। रोहिणी माँकी आज्ञा है कि किसीको घुसने न दूँ। इसलिये खबरदार। आगे बढ़े तो—'

मजबूर होकर दोनों भाई वहीं रुक गये। द्वारपर पहरा बिठाकर रोहिणीजी निश्चिन्त हो गयी थीं। वे तल्लीन होकर व्रजलीला सुनाती रहीं और रानियाँ बड़े ध्यानसे सुनती रहीं। किसीको क्या पता कि बाहर भी कोई सुन रहा है। कृष्ण-बलराम और सुभद्रा तीनों रोहिणी माँके मुँहकी भावभीनी रसभरी व्रजलीला सुन-सुनकर विभोर हो रहे थे। आनन्द और खुशीके मारे उनके आँसुओंकी धार बहने लगी, शरीर पुलकित हो गये। वे तीनों काँपने लगे। रोहिणीजीने राधाके प्रेमका वर्णन किया, फिर रास-लीलाकी चर्चा की। सुन-सुनकर बहन-भाइयोंकी हालत अजीब होने लगी। तीनोंके हाथ-पैर सिकुड़ते-सिकुड़ते शरीरके भीतर ही समा गये। बचो, कृष्णके साथ उनका प्रिय सुदर्शन भी रहता था न? उसे निर्जीव पदार्थ मत समझो। वह भी कृष्णका संगी-साथी है। व्रजलीलाको सुन-सुनकर पिघल-पिघलकर वह भी एक लंबी छड़-सा बन गया!

इधर तो यह सब हो रहा था, उधर कृष्णसे मिलने नारदजी आ धमके। मस्तीमें वीणा बजाते कृष्णको खोजते वे भी महलके बाहर पहुँच गये। वहाँ तीन मूर्तियोंको हँसते-रोते देखकर वे हक्के-बक्के रह गये।

थोड़ी ही देरमें जब रोहिणी माँने राधाके विरहका वर्णन किया, तब कृष्ण-बलराम-सुभद्रा और सुदर्शन अपने पहलेवाले सहज-स्वाभाविक रूपमें लौट आये।

सामने नारदको देखा तो कृष्ण सहमकर बोले—'नारद, आज बड़ी खुशीका दिन है। आज जो सुख मिला है उसकी तुलना नहीं। इस खुशीके दिन कोई वर माँगो।'

नारद बोले—'वर पीछे, पहले यह बताइये कि आज आप लोगोंका यह हाल कैसे हुआ?'

कृष्णने कहा 'नारद, अन्तःपुरमें माँ रोहिणी मेरी व्रजलीलाका बखान कर रही हैं। बस, सुन-सुनकर खुशीसे हमारा यह हाल हो गया।

'तो मैं यही वर चाहता हूँ कि आप चारोंका यह स्वरूप पृथ्वीपर हर किसीको देखनेको मिले।'

कृष्ण 'तथास्तु' कहकर बोले—'नारद, तुम्हारी इच्छा पूरी होगी।'

पुरीके प्रसिद्ध जगन्नाथ-मंदिरमें जो अटपटी दारु-(काष्ठ-) मूर्तियाँ हैं, वे कृष्ण-बलराम, सुभद्रा और सुदर्शन ही हैं।

पुरीमें प्रति वर्ष आषाढ़ मासमें (शुक्ल-पक्षकी द्वितीयाको) रथयात्रा-उत्सव शुरू होता है। उस दिन ये मूर्तियाँ अलग-अलग रथोंमें जगन्नाथ-मन्दिरसे एक-डेढ़ मील दूर गुडीचामन्दिरतक बड़ी धूमधामके साथ ले जायी जाती हैं। ऐसी परम्परा है कि रथयात्रा शुरू होनेके पहले स्वयं पुरीके महाराजा इन रथोंकी धुलाई करते हैं। साथही जगन्नाथ-मन्दिरकी ये मूर्तियाँ बीच-बीचमें बदली भी जाती हैं। जिस वर्ष दो आषाढ़-महीने आते हैं, उसी साल इन मूर्तियोंको बदला जाता है। इस उत्सवको 'नव कलेवर' कहते हैं। ये मूर्तियाँ चाहे जिस लकड़ीकी नहीं बनायी जातीं। एक विशेष दारु-(वृक्ष-) की खोज की जाती है, जिसपर शङ्ख-चक्र, गदा-पद्म बने होते हैं, उसी लकड़ीकी नयी मूर्तियाँ तैयार करायी जाती हैं।

मानसका एक दुर्लभ प्रसङ्ग

(लेखक—डॉ० श्रीगोपालप्रसादजी 'वंशी')

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कतिपय दुर्लभ पदार्थोंका प्रसङ्गवश स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है। उसीके आधारपर यह संकलन किया गया है। इस लेखमें यह बतलानेका प्रयत्न किया जायगा कि ये दुर्लभ पदार्थ कौन-कौनसे हैं।

सबसे पहले तो यह मनुष्य-शरीर ही बहुत दुर्लभ है। वह चाहे मिट्टीका घड़ा हो, क्षणभंगुर हो, विषय-वासनाओं और रोग-शोकका घर हो, जो कुछ भी हो, परंतु है बहुत दुर्लभ—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥

(मानस, उत्तरकाण्ड)

ऐसा क्यों कहा गया है? यह क्षणभंगुर शरीर सुर-दुर्लभ क्यों बतलाया गया है? कारण उसी चौपाईके आगे मिलता है—'**साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।**'

यह शरीर सभी साधनाओंका मार्ग और मुक्तिका द्वार है, इसी कारण यह सुर दुर्लभ है। इसके जरिये चारों पदार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्षका साधन हो सकता है। दुर्लभ नर-शरीर पाकर जिसने कुछ भी पुरुषार्थ न किया, जिसने लोक-परलोकका, किसी एकका भी साधन न किया, वह अभागी शोचनीय है। मनुष्य शरीर बहुत दुर्लभ है, इसलिये इसका कुछ-न-कुछ सदुपयोग करना ही चाहिये।

अमृतका नाम सुना जाता है, विष प्रत्यक्ष देखनेको मिलता है। सुधा दुर्लभ है, विष सर्वत्र सुलभ है। हंस जल्दी नहीं मिलता। कौए, उल्लू और बगुले सभी जगह बहुतायतसे पाये जाते हैं—

सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥

सुधा और राजहंसकी तरह सच्चे संत और यथार्थ सज्जन भी संसारमें बहुत कम मिलते हैं। मनुष्य-समाजमें वेषधारी बगुलों, स्वाँग बनानेवाले बहुरूपियों और धूर्त कौवोंकी कमी नहीं। जहाँ ढूँढ़ो ये काफी तादातमें मिलेंगे। इसीलिये सज्जनके संगका मिलना बहुत दुर्लभ बतलाया गया है—

सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा॥
(उत्तरकाण्ड)

एक ही बार, एक घड़ी या एक पल भरके लिये भी सज्जनोंकी संगति मिलना दुर्लभ है। यदि घंटे, दो घंटेके लिये भी सत्समागम हो जाय तो फिर क्या कहना है। ध्रुवसे पहले-पहल नारदजीसे पाँच मिनटकी ही तो मुलाकात हुई थी—'धन्य घरी सोइ जब सतसंगा।'

पारस-पत्थरका जरा-सा स्पर्श होते ही लोहा सोना बन जाता है—

मज्जन फल देखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला॥
सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥

सत्संगति क्या नहीं करती ? राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं कि वह सब कुछ कर सकती है, बुद्धिकी जड़ताको हरती, वाणीमें सत्यको खींचती, मानको बढ़ाती, पापको दूर करती, चित्तको प्रसन्न रखती और दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है। जिस संगतिसे ये परिणाम नहीं हो सकते उसे सत्सङ्ग कैसे कहें ? जिससे ये परिणाम हो सकते हैं, वह मूल्यवान् सत्सङ्ग सचमुच दुर्लभ है। ऐसे राजहंसरूपी विवेकी और सुधाके समान प्राणदायक सज्जन बहुतायतसे कहाँ मिल सकते हैं ?

प्रायः देखा जाता है कि हम कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। हाथीके दाँत दो प्रकारके होते हैं—खानेके और, दिखानेके और। दूसरेकी विपत्तिके समय धीरज रखनेका उपदेश देना अलग बात है और अपनी विपत्तिके समय स्वयं धीरज रखना अलग बात है। जैसा कहना वैसा करना सबसे नहीं होता। यदि ऐसा हो जाता तो संसार स्वर्ग बन जाता। हम जिन बुरी बातों (चोरी, जुआ, मद्य-पान, अत्याचार) के लिये दूसरोंको मना करते हैं, उन्हींका आचरण स्वयं करते हैं। इसीलिये दूसरोंपर हमारे उपदेशोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥
(लंकाकाण्ड)

अपने वचनों और उपदेशोंके अनुसार स्वयं आचरण करनेवाले आदमी संसारमें बहुत कम हैं जो हैं वे धन्य हैं। जिसमें मन, वाणी और कर्मकी एकता पायी जाती हो उसे आप दुर्लभ पुरुष ही समझिये—वह चाहे बूढ़ा हो या दरिद्र, अपढ़ हो या रोगी—वह कोई महापुरुष अथवा श्रेष्ठ जीव है।

बूढ़े माता-पिता और बड़े-बूढ़ोंका आदर करना तथा उनके विचारों और इच्छाओंके अनुकूल चलना तो आजकलके युगमें बहुत ही कठिन होता जा रहा है। ब्याह हो गया और थोड़ी-सी जीविकाका प्रबन्ध हो गया कि बड़े-बूढ़े बेकाम और माता-पिता भाररूप मालूम होने लगते हैं। वृद्ध माता-पिताका शारीरिक पोषण तो लोक-लज्जाके कारण कर भी दिया जाता है, परन्तु उन्हें मानसिक संतोष पहुँचाना तो आजकल एक बला मानी जाती है। हिंदू कुटुम्ब-प्रणालीका प्राचीन आदर्श बहुत उच्च था। माता-पिताकी गिनती देवताओंमें की जाती थी। किसी-किसी घरमें यह आदर्श अब भी दिखलायी पड़ता है। अस्तु, रामचन्द्रजीने उस प्राचीन आदर्शका उपदेश कई प्रसङ्गोंपर किया है। अपने आचरणसे भी उन्होंने आदर्श पितृ-मातृ-भक्ति दिखलायी है।

(क्रमशः)

अपने अनुभवका आदर

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

अपने अनुभवपर ध्यान न देनेके कारण ही बन्धन हो रहा है, इसमें और कोई कारण नहीं है। रुपये तो किसीके पास लाखों, करोड़ों और अरबों भी हो सकते हैं और किसीके पास रुपये नहीं भी हैं; परंतु अनुभवसे कोई खाली नहीं है। अपना अनुभव सबके पास है। इसको जो आदर देता है, वह निहाल हो जाता है। हम लोग इसको आदर नहीं देते हैं, इसको महत्त्व नहीं देते हैं; इसे कीमती नहीं समझते, यही हमसे भूल होती है। जिस तरहसे हमने रुपया, सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदिको कीमती समझ रखा है, उसी तरह कीमती समझो और इसका आदर करो तो अभी उद्धार हो जाय।

लाली लाली सब कहे सबके पल्ले लाल।
गाँठ खोल देखे नहीं ताते फिरे कंगाल॥

वह गाँठ खुलनेकी बात बताता हूँ। वह भी मैंने संत-महात्माओंसे जैसी सुनी है, पुस्तकोंमें पढ़ी है, उसीके अनुसार कहता हूँ, पर बात एकदम सच्ची है। पतञ्जलिजी महाराजने श्रुति, युक्ति और अनुभूति—ये तीन प्रमाण ही मुख्य माने हैं। अभी मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, वह शास्त्र-सम्मत है, युक्ति-संगत है और अनुभवसे सिद्ध है। वह बात यह है कि 'मैं वही हूँ जो बचपनमें था अर्थात् बालकपनमें मैं जो था, वही आज हूँ और मरनेतक मैं वही रहूँगा। यह आपको साफ दिखता है। इससे थोड़ा धुँधला यह भी दिखता है कि पहले जन्मोंमें मैं था और इसके बाद भी अगर मेरे जन्म होंगे तो मैं रहूँगा। तो 'मैं' निरन्तर रहा और शरीर बदले। मेरे निरन्तर रहनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी बाधा नहीं पड़ती। शरीरोंके बदलनेपर भी मैं किञ्चिन्मात्र भी नहीं बदला। शरीर तो बदलते ही रहते हैं, प्रतिक्षण बदलते हैं। एकक्षण भी ऐसा नहीं, जब ये न बदलते हों, परन्तु इनमें रहनेवाला 'मैं' अनन्त युग बीत जायँ अनन्त ब्रह्मा हो जायँ तो भी कभी बदलनेवाला नहीं है। इस वास्ते बदलनेवाले शरीर और न बदलनेवाले अपने-आपको मिलावें नहीं। इनको अलग-अलग कर लें। बस, इतनी ही बात है। दोनोंको मिलाकर देखते हो, तब हो जाता है अज्ञान और इनको अलग-अलग देखते हो तो हो जाता है तत्त्वज्ञान अर्थात् ये दोनों सदा अलग-अलग हैं, इनको ऐसा समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है।

आप जानते हैं कि जो बचपनमें मैं था, वही मैं आज हूँ। इस ज्ञानको शास्त्रीय भाषामें 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी ज्ञानको 'तत्त्वमसि'—'वही तू है' कहते हैं; अर्थात् वह जो परमात्मा है, वह तू है। ऊँचे-से-ऊँचा महावाक्य यही है और साधारण-से-साधारणका अनुभव यही है। केवल इसपर दृढ़ रहना है कि जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वृत्तियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, वस्तुएँ बदलती हैं; परंतु मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। मैं बदलनेवालोंको देखनेवाला हूँ। बदलनेवालेको वही देखता है, जो स्वयं न बदलनेवाला होता है। इसलिये मैं सदा रहता हूँ। मेरा स्वरूप कभी बदलता नहीं, जबकि शरीर नित्य-निरन्तर बदलता है। मैं वही हूँ, पर शरीर वही नहीं है। ऐसे ही संसारमें परमात्मा वे ही हैं, जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि अनन्त युगोंमें पहले थे, वे ही परमात्मा आज भी हैं। अनन्त युग बदल जायेंगे तो भी परमात्मा वे ही रहेंगे। इस वास्ते परमात्मा

और मैं तत्त्वतः एक हैं तथा संसार और शरीर तत्त्वतः एक हैं।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा॥

जिन पाँच भौतिक तत्त्वोंसे शरीर बना है, उन्हीं पाँच तत्त्वोंसे संसार बना है। संसारके साथ शरीरकी एकता है। शरीर संसारसे कभी भी अलग नहीं हो सकता। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं कि शरीरको संसारसे अलग कर दे। जिस धातुका संसार है, उसी धातुका शरीर है। स्थूल शरीरकी स्थूल संसारसे एकता है। सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म संसारके साथ एकता है। कारण शरीरकी कारण संसारके साथ एकता है। हम परमात्माके अंश हैं—**'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (गीता १५। ७)। परमात्माका अंश और परमात्मा दो नहीं हैं यानी हम और परमात्मा तत्त्वतः एक हैं।

वास्तवमें शरीरके साथ हमारी एकता नहीं है, पर हमने उसके साथ एकता मान ली। परमात्माके साथ हमारी वास्तवमें एकता है; पर उससे हमने अपनेको भिन्न मान लिया कि मैं तो यहाँ हूँ, परमात्मा न जाने कहाँ हैं? इस तरह उनके साथ अपनी एकता नहीं मानी। यह केवल मान्यतामें भूल है। हमने यह एक गलत मान्यता कर रखी है कि मैं और शरीर एक हैं, मेरे साथ शरीर है, पर यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि आप बदले नहीं और शरीर बदलता है। संसार बदलता है और परमात्मा बदलते नहीं। तो न बदलनेवाले हम और न बदलनेवाले परमात्मा एक हैं। बदलनेवाला शरीर और बदलनेवाला संसार एक हैं। यह विवेक मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। यह कभी मिट नहीं सकता।

जैसे संसारका और परमात्माका दो-पना है, उनका अलगाव स्पष्ट है, इसी तरह शरीरका और हमारे स्वरूपका दो-पना है। यह दो-पना कभी मिट नहीं सकता। यह अलगाव अनादि कालसे है और हमेशा रहेगा। इसीको अलग-अलग जाननेके लिये भगवान्‌ने गीतामें **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (१३। १९) पदोंसे प्रेरणा की और इस प्रकार दोनोंको अलग-अलग जाननेका फल (१३। २३वें में) बताया है। तो मनुष्य अपनी इस जानकारीका आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता। शरीरसे मैं अलग हूँ—इस बातको वह कीमती नहीं समझता। उसने अपने अनुभवको रद्दी कर रखा है और शरीरके साथ एकता मानकर बँधा हुआ है। शरीरके साथ एकता अभीतक कोई न पकड़कर रख सका है और न आगे भी रख सकेगा। इसी बातको भगवान्‌ने अर्जुनको गीताका उपदेश प्रारम्भ करते समय दूसरे अध्यायके बारहवें श्लोकमें कहा है कि 'ऐसा नहीं है कि मैं पहले नहीं था, तू पहले नहीं था और ये राजालोग पहले नहीं थे या इस शरीरके बाद तू नहीं रहेगा, मैं नहीं रहूँगा और राजा लोग नहीं रहेंगे', अर्थात् तू, हम और ये राजालोग वास्तविक स्वरूपसे नित्य हैं। शरीरके साथ हम नहीं मरते। भगवान्‌की कही इस बातका तथा अपने अनुभवका हम आदर करें तो हमारा तत्क्षण उद्धार हो जाय।

शरीर और संसार एक हैं। मैं तथा परमात्मा एक हैं। मैं और परमात्मा किस तरह एक हैं, इस विषयमें मतभेद है। द्वैत मतवाले जातिसे एक मानते हैं और अद्वैत माननेवाले स्वरूपसे एक मानते हैं, पर संसारके साथ हमारी जातिगत अथवा स्वरूपगत एकता नहीं है—इस विषयमें सब एक मत हैं अर्थात् संसारके साथ हमारा सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है। इस विषयमें सब दार्शनिक एकमत हैं। श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीमाधवाचार्य आदि जितने महापुरुष हुए हैं, उनमेंसे किसीने भी शरीरके

साथ अपनी एकता नहीं मानी है। आचार्योंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्य-भेदाभेद आदि नामोंसे जीव और परमात्माके सम्बन्धमें जितना वर्णन किया है, उसमें परमात्माके साथ जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। जीवकी परमात्माके साथ एकता है इसमें सब दार्शनिक एक हैं। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा तथा जीव दो हों चाहे एक हों, इस पचड़ेमें आप क्यों पड़ें? अपने तो एक मतवाली बात मान लें कि हम शरीरके साथ एक नहीं हैं, हम तो परमात्माके साथ एक हैं और वे ही हमारे हैं। यही असली ज्ञान है। इसीको दृढ़तासे धारण करना है। इसको धारण करनेमें बाधा कुछ नहीं है।

शरीरके सुखसे हम सुख लेते हैं यानी अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। शरीरका मान होनेसे अपना मान मानते हैं। इसकी बड़ाई होनेसे अपनी बड़ाई मानते हैं। शरीरका निरादर अपना निरादर, शरीरका अपमान अपना अपमान मानते हैं। पर शरीरको कोई पीस डाले तो भी तुम्हारा कुछ भी बिगड़ता नहीं। एक दिन इस शरीरको लोग जला ही देंगे, पर तुम्हारे स्वरूपका किञ्चिन्मात्र हिस्सा जलेगा नहीं, स्वरूप नष्ट होगा नहीं। संसार अपमान करे, निन्दा करे, दुःख दे, शरीरका टुकड़ा-टुकड़ा करे तो भी तुम्हारे स्वरूपका कुछ भी नहीं बिगड़ता। इसलिये गीताजीमें कहा है—**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'** (६।२२) अर्थात् बड़े भारी दुःखसे वह पुरुष विचलित नहीं किया जा सकता। हाँ, शरीरके टुकड़े-टुकड़े करनेपर शरीरको पीड़ा हो सकती है, दर्दका अनुभव हो सकता है, मूर्च्छा आ सकती है; परंतु तुम्हें दुःख हो जाय, यह सम्भव नहीं; क्योंकि वास्तविक ज्ञानमें महान् आनन्द है। इतना आनन्द रुपयोंके मिलनेपर कभी नहीं हो सकता। रुपयोंको तो देते हैं आदर और अपने अनुभवका करते हैं निरादर, इस वास्ते कहा जाता है कि इतना आनन्द रुपयोंके मिलनेपर भी नहीं हो सकता। शरीर और आप दो हैं, पर शरीरके साथ एक होकर शरीरके दुःखमें दुःख और उसके सुखमें सुख मान लेते हैं, कृपा करके यह न मानें।

प्रश्न—सुख प्रत्यक्ष दिखता है, उसको कैसे न मानें?

उत्तर—दिखे तो दिखता रहे, उसको मानो मत। जैसे दर्पणमें मुख दिखता है; परंतु उस मुँहको आप दर्पणमें मानते हैं क्या? नहीं मानते। दर्पणमें मुख दिखता है, पर उसको आप पकड़ सकते हो क्या? नहीं पकड़ सकते। तात्पर्य है कि दर्पणमें मुख तो दिखता है; परंतु हम जानते हैं कि वहाँ कुछ नहीं है। इसी प्रकार शरीरके सुख-दुःखको अपनेमें कभी मत मानो। कृपा करो कृपानाथ! इतनी-सी बात मान लो।

मैं शरीर हूँ, यह दर्पणमें जैसे मुख दिखे-ज्यूँ दीखता है, पर वास्तवमें यह है नहीं। मैं शरीरसे अलग हूँ। अगर शरीर और आप एक होते तो शरीरके साथ आप यहाँ रहते। मरनेपर शरीर यहीं पड़ा रहता है और आप चले जाते हो। अथवा आप और शरीर एक होते तो मरनेपर शरीर आपके साथ चला जाता। मरनेपर शरीर तो रहता है और आप चले जाते हो, इससे स्पष्ट है कि आप और शरीर एक नहीं हैं। जैसे, मैं मकानमें बैठा हूँ तो मैं मकानसे अलग हूँ; क्योंकि मैं मकानसे बाहर जा सकता हूँ और मकान यहीं रहता है। मैं मकानके बिना अलग रहता हूँ तो मैं और मकान एक कैसे हुए? हम मरे हुए मनुष्यों, पशुओंको देखते हैं तो उनके शरीर तो यहीं पड़े रहते हैं और उनमें रहनेवाला जीव चला जाता है तो दोनों

अलग-अलग हुए न ? वे दोनों अभी अलग-अलग नहीं हुए हैं, वे पहलेसे ही अलग थे और ऐसी बात भी नहीं है कि पहले इतने दिनतक तो एक थे, अब अलग हो गये, प्रत्युत वे सदासे ही अलग-अलग हैं।

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।'
(गीता २ । १२)

इस श्लोकमें भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके अनुभवका ही वर्णन किया है अर्थात् शरीर और शरीरी, देह और देही—इन दोनोंको अलग-अलग बतलाया है। इस प्रकरणके आरम्भसे उपसंहार (तीसवें श्लोक) तक भगवान् यही बात कहते रहे; क्योंकि यह मूल बात है। भगवान्‌ने इसी बातसे उपदेशका श्रीगणेश किया है। इस प्रकरणमें भगवान्‌ने कहा कि 'शरीर सदा बदलनेवाला है और शरीरी कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर शोक हो नहीं सकता; क्योंकि नाश होनेवालेका नाश होगा ही इसमें शोककी क्या बात ? और अविनाशी अविनाशी ही रहेगा तो इसके लिये शोक हो ही नहीं सकता, शरीरी तो है ज्यों-का-त्यों। अब शोक किस बातका ?

जैसे परमात्मा सब संसारमें रहते हैं, पर सब संसारमें रहते हुए भी संसारसे निर्लेप रहते हैं। अब यदि संसार सारा-का-सारा उथल-पुथल हो जाय तो परमात्माका कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही आप भी परमात्माके अविनाशी, सनातन अंश हो, इस वास्ते शरीरके नाश होनेपर भी आप भी हो—जैसे ही रहोगे। गुणोंका संग किया है इसलिये जन्म-मरण होते हैं—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१); और गुणोंका संग छोड़ा, फिर जन्म-मरण है ही नहीं। तात्पर्य है कि आपने गुणोंसे सम्बन्ध माना है, उसको न मानते ही वह सम्बन्ध मिट जायेगा; यह एकदम सच्ची बात है।

'आपका रहना नित्य-निरन्तर है, शरीर रहनेवाला नहीं है'—यह बात सुननेपर स्पष्ट जाननेमें आती है और हृदय भी स्वीकार करता है, फिर भी यह बात रहती नहीं, ऐसा आप मत मानो। यह कभी जा नहीं सकती, ऐसी सच्ची बात है। यह बात याद रहे अथवा न रहे, इसकी चिन्ता मत करो। पहले इधर लक्ष्य नहीं था, अब लक्ष्य हो गया, यह अन्तर पड़ा है, पर पहले भी बात ऐसी ही थी, अब भी ऐसी ही है। यह तो बात ही ऐसी है और ऐसी ही रहेगी। सही बात सही ही रहेगी। यह याद नहीं रहती, ऐसा मत मानो। याद नहीं रहनेसे क्या हुआ ? जैसे सामने यह थम्भा दिखता है और बाहर चले जाओ तो थम्भा नहीं दीखता, तो थम्भा मिट गया क्या ? जो बात सही है, वह सही ही रहेगी। कहते हैं कि फिर बाधा क्या है ? बाधा यही है कि 'दूसरोंसे सुख ले रहे हो'—यही खास बाधा है। अब दूसरोंको सुख देना प्रारम्भ कर दो। इतने दिन तो सुख लिया, अब सुख देना शुरू कर दो तो निहाल हो जाओगे।

रुपया, पैसा मुझे मिल जाय, आराम और मान, बड़ाई मुझे मिल जाय, यही महान् बाधा है। इससे मिलेगा कुछ नहीं। मान, बड़ाई, रुपया, आराम पहले तो मिलेगा नहीं, मिल जायगा तो टिकेगा नहीं और टिक भी जायगा तो आपका शरीर नहीं रहेगा; क्योंकि शरीरका वियोग अवश्यम्भावी है, तो इसमें कोरी हानिके सिवाय कुछ नहीं है। इतने नुकसानकी बातको भी नहीं छोड़ेंगे तो, क्या छोड़ेंगे ?

नारायण ! नारायण ! नारायण !

मानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीगिरिधरजी मिश्र 'प्रज्ञाचक्षु')

[गताङ्क ७, पृ० संख्या ६९२ से आगे]

इसलिये तीनों भावोंकी परीक्षा करनेके लिये इन तीनों भावोंकी उद्दीपक सामग्रियोंको वे उपहारमें ले गये थे। एक पक्ष तो यह है। पर भरतजी महाराज उपहार नहीं लेते हैं; क्योंकि वे किसी गुणके अधीन नहीं हैं, न तो सत्त्वगुणी हैं, न रजोगुणी हैं, न तमोगुणी हैं। भरतजी तो अब गुणातीत हो चुके हैं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(१४।२६)

भरतजी महाराज गुणातीत हैं, अतः गुणातीतको किसी भी गुणके उद्रेजक पदार्थसे आग्रह नहीं होता। इसलिये उन्होंने निषादकी भेंट नहीं ली। उन्होंने निषादको गले लगा लिया—

करत दंडवत देख तेहि भरत लीन उर लाइ।
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १९३)

तीसरी बात कन्द, मूल, फल तो खानेके लिये हैं और खग, मृग, केलि—खेलके लिये हैं कि राजकुमार हैं, उनको पसंद आयेंगे और मीन, पीन आदि ये शकुनके लिये हैं—

सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥
(रा० च० मा०, बालकाण्ड ३०२।८)

'शकुन-विचारालंकार' पुस्तकमें लिखा है—**'मीनान् पश्यन्तिः शाकुनिकाः।'** मीन शकुनका सूचक है। हमारे यहाँ देहातमें कहते हैं, मानो यह शकुनकी शफरी है।

मीन, पीन, पाठीन पुराने—मीनोंको, मछलियोंको उन्होंने शकुनके लिये लिया।

तीसरा भाव—मीनको ले जानेमें भरतजीके प्रति एक उनका आदर भाव छिपा था, मानो भरतजीके प्रति वे कह रहे थे कि आपने अयोध्यावासियोंके समक्ष मीनावतार भगवान्‌की भूमिका निभायी। कैसे? मीनावतार भगवान्‌ने वैवस्वत मनुको डूबते हुए बचाया था (भागवत स्कन्ध ८, अध्याय २४)। आपने तो समस्त मनुवंशियोंको ही डूबते हुए उबार लिया।

अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १८४)

इसलिये मीनावतार भगवान्‌की प्रसिद्धिकी दृष्टिसे, मीनावतार भगवान्‌की भूमिका निभानेके कारण भरतजीके सामने मीन, पीन, पाठीन पुराने लेकर आये। अथवा अन्तिम उत्तर दे रहे हैं। गोस्वामीजीका स्वभाव प्रायः कहीं-कहीं समासमें बोलनेका है; जैसे—

'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥
(रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड १२२।१)

और कहीं-कहीं वे पर्यायमें बोला करते हैं। जैसे कार्तिकेय न कहकर षट्मुख कहते हैं—'षन्मुख जन्मु सकल जग जाना' (रा० च० मा०, बालकाण्ड १०२।८)। ब्रह्मा न कहकर जल्दी चतुरानन कहते हैं—'चतुरानन विरञ्चि'। चतुरानन माने चार मुखवाले, चार हैं मुख जिसके। उसी प्रकारसे हिरण्यकश्यपु न कहकर कनककश्यपु बोलते हैं, हिरण्याक्ष न कहकर हाटक-लोचन कहते हैं। उसी प्रकार मीन, पीन शब्द यहाँ सामासिक है अर्थात् **'मीनाः पीनाः यस्मिन्'।** मीन माने मछली मोटा[1] होता है जिसमें। आप जानते होंगे मीन कहाँ मोटा हो सकता है।

'जल ज्यों दादुर मोर भए पीन पावस प्रथम॥'
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड २५१)

मीन मोटा जलमें होता है। प्रश्न यह है कि जल कौन है? यहाँ पाठीन शब्द संस्कृत का है, **'पाठीनम्**

१-'जनु पाठीनु दीन बिनु पानी' (रा० च० मा० अयोध्याकाण्ड ३४।२)

पुराणे' शब्द सप्तमी विभक्तिका है, गोस्वामीजी कभी-कभी विभक्तियोंमें बोला करते हैं । जैसे—

हरि अवतार हेतु जेहिं होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥
(रा० च० मा०, बालकाण्ड १२० । २)

जैसे उन्होंने संस्कृतके शब्दको ही तृतीया बिभक्तिसे बोल करके कहा है; यथा—

'मनजात किरात निपात किए।
मृग लोग कुभोग सरेन हिए॥'
(रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड १३ । ७)

यहाँ कुभोग सरेन लिखा है, होना चाहिये कुभोगशरेण । कुभोगके बाणसे; जैसे कुभोगशरेण इस तृतीयान्तको 'कुभोग सरेन' लिख दिया, उसी प्रकार पुराणे इस सप्तम्यन्तको उन्होंने पुराने लिखा है। 'मीन, पीन, पाठीन पुराने ।' मीन होता है मोटा जिस समय और जो पुराने माने जो पुराणमें पाठीन माने जो पढ़ा गया वह जल; तो कौन-सा जल पुराणमें पढ़ा गया है—'गङ्गादर्शनान्मुक्तिः' अर्थात् गङ्गाजल ही 'भरि भरि भार कहारन्ह आने' (रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १९२ । ३) । यह तो आप जानते होंगे, कि मछलीको मछुआ ले आता है, न कि कहार ले जाता है । यहाँ तो परम्परा अब नहीं है, पहले जमींदारोंके यहाँ भी थी और हमलोगोंके गाँवमें अभी भी है, बड़े लोगोंके यहाँ कहार ही पानी भरा करते हैं । इसलिये केवटका जल उन दिनों नहीं पिया जाता था, अस्पृश्य था केवट । इसलिये—

'मीन पीन पाठीन पुराने । भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥'
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १९२ । ३)

दिव्य जल लेकर गये । इसका तात्पर्य क्या है ? गङ्गाजल भी तो अगाध है । 'सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं' (राम० च० मा०, अरण्यकाण्ड ३९) । अगाधमें दूर जाकर धारासे गङ्गाजल ले आये, जो गंदा न हो, जो पीनेमें भी अच्छा हो । घाटके नजदीक जो जल होगा उसमें नाना प्रकारके मैल आदि चले जाते हैं । जरा दूरसे, मध्य धारासे गङ्गाजीका स्वच्छ जल भारोंमें भर-भरकर घड़ोंमें भरा और बहँगियोंमें कहारोंद्वारा ले गये, तो कन्द, मूल, फल खानेके लिये खग, मृग खेलनेके लिये और मीन पीन पाठीन पुराने—कंद, मूल, फल किसीको खिलाते हैं तो यह थोड़े ही कहेंगे कि जाओ गङ्गाजीमें पानी पी लो । इसलिये मिट्टीके घड़ोंमें पानी ले करके गये ।

'मीन पीन पाठीन पुराने । भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥'
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १९२ । ३)

यही गोस्वामीजीका यहाँ तात्पर्य है; क्योंकि यदि आप पुराने शब्दको संस्कृतमें ही मानते हैं तो फिर 'मृग लोग कुभोग सरेन हिए (रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड १३ । ७)में कुभोग सरेनको क्या कहेंगे ? जैसे, कुभोग सरेण—कुभोगके बाणसे; जैसे सरेणको गोस्वामीजी सरेन बोल लेते हैं, उसी प्रकार 'पुराणे' शब्दको गोस्वामीजीकी भाषामें क्या बोलेंगे ?—'पुराने' ।

'मीन पीन पाठीन पुराने । भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥'
(रा० च० मा०, अयोध्याकाण्ड १९२ । ३)

पानी यही यहाँ उचित समाधान प्रतीत होता है कि मछलीको यदि लाना होता तो कहते—'भरि भरि भार मलाहन आने' तो 'मलाहन आने' न कहकर यहाँ उन्होंने लोकरीतिका रक्षण किया; जबकि लोकमत भी उनके यहाँ एक तट है—

'सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक बेद मत मंजुल कूला ॥'
(रा० च० मा०, बालकाण्ड ३८ । १२)

यदि यहाँ ऐसा अर्थ न माना जाय तो लोकमतका अनादर होगा ।

'............भिद्यते शास्त्रम्' । लोकसे शास्त्रका कभी भेद तो होता नहीं ।

गीताका कर्मयोग—६५

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क सं० ७, पृष्ठ-संख्या ७०२ से आगे]

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने बतलाया कि यज्ञके लिये कर्म करनेसे सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण साधन भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। इस लिये अब अगले (चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक) सात श्लोकोंमें भगवान् भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंका 'यज्ञ' रूपसे वर्णन करते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिस यज्ञमें हवन-कर्ता अपने-आपको ब्रह्म ही देखता है तथा स्रुवा आदि पात्रोंको, हवन करने-योग्य तिल, जौ, घी आदि पदार्थोंको, अग्निको और हवनरूप क्रियाको भी ब्रह्म ही देखता है*, उस यज्ञको करनेवाले पुरुषकी ब्रह्ममें कर्म-समाधि हो जाती है अर्थात् उसके लिये कर्ममात्र ब्रह्मरूप हो जाता है—कर्मोंमें भी वह ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि हो जानेसे ऐसे पुरुषको उस यज्ञके फलरूपमें ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है।

सब जगह एक परमात्मतत्त्व ही परिपूर्ण है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है—यह (भाव) भी एक साधन है, जिससे परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है।

अन्वय—**अर्पणम्, ब्रह्म, हविः, ब्रह्म, ब्रह्मणा, ब्रह्माग्नौ, हुतम्, ब्रह्मकर्म, समाधिना, तेन, गन्तव्यम्, ब्रह्म, एव ॥ २४ ॥**

पद-व्याख्या—[यज्ञमें आहुति मुख्य होती है। वह आहुति तब पूर्ण होती है, जब वह अग्निरूप ही हो जाय अर्थात् हव्य पदार्थकी अग्निसे अलग सत्ता ही न रहे। इसी प्रकार जितने भी साधन हैं, सब साध्यरूप हो जायँ, तभी वे यज्ञ होते हैं।

जितने भी यज्ञ हैं, उनमें परमात्मतत्त्वका अनुभव करना भावना नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है। भावना तो पदार्थोंकी है।

इस चौबीसवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक जिन यज्ञोंका वर्णन किया गया है, वे सब 'कर्मयोग'के अन्तर्गत हैं; कारण कि भगवान्‌ने प्रस्तुत प्रकरणके उपक्रममें भी **'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (४ । १६)—ऐसा कहा है; और उपसंहारमें भी **'कर्मजान्विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे'** (४ । ३२)—ऐसा कहा है तथा बीचमें भी कहा है—**'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** (४ । २३)। मुख्य बात यह है कि यज्ञकर्ताके सभी कर्म 'अकर्म' हो जायँ। यज्ञ केवल यज्ञ-परम्पराकी रक्षाके लिये किये जायँ, तो सब-के-सब कर्म अकर्म हो जाते हैं। अतएव इन सब यज्ञोंमें 'कर्ममें अकर्म'का ही वर्णन है।]

अर्पणम् ब्रह्म—(जिस यज्ञमें) अर्पण ब्रह्म है।

जिस पात्रसे अग्निमें आहुति दी जाती है, उस स्रुक्, स्रुवा आदिको यहाँ **'अर्पणम्'** पदसे कहा गया

---

* अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ (गीता ९ । १६)
'क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ।'

है—**'अर्प्यते अनेन इति अर्पणम्'** । उस अर्पणको ब्रह्म ही माने ।

हविः ब्रह्म—हवि (भी) ब्रह्म है ।

तिल, जौ, घी आदि जिन पदार्थोंका हवन किया जाता है, उन हव्य पदार्थोंको भी ब्रह्म ही माने ।

ब्रह्मणा ब्रह्माग्नौ हुतम्—ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया (भी ब्रह्म ही है)।

आहुति देनेवाला भी ब्रह्म ही है*, जिसमें आहुति दी जा रही है, वह अग्नि भी ब्रह्म ही है और आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म ही है—ऐसा माने ।

ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन—(इस प्रकार) जिसकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा ।

जैसे हवन करनेवाला पुरुष स्रुवा, हवि, अग्नि आदि सबको ब्रह्मका ही स्वरूप मानता है, वैसे ही जो प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, कर्म और पदार्थ सबको ब्रह्मरूप ही अनुभव करता है, उस पुरुषकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होती है अर्थात् उसकी सम्पूर्ण कर्मोंमें ब्रह्मबुद्धि होती है । उसके लिये सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं । ब्रह्मके सिवा कर्मोंका अपना कोई अलग स्वरूप रहता ही नहीं ।

गन्तव्यम् ब्रह्म एव—प्राप्त करनेयोग्य (फल भी) ब्रह्म ही है ।

ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि होनेसे जिसके सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मरूप ही बन गये हैं, उसे फलके रूपमें निःसन्देह ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है; कारण कि उसकी दृष्टिमें ब्रह्मके सिवा और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं।

इस (चौबीसवें) श्लोकको शिष्टजन भोजनके समय बोलते हैं, जिससे भोजनरूप कर्म भी यज्ञ बन जाय । भोजनरूप कर्ममें ब्रह्मबुद्धि इस प्रकार की जाती है—

(१) जिससे अर्पण किया जाता है, वह हाथ भी ब्रह्मरूप है—**'सर्वतः पाणिपादं तत्'** (गीता १३।१३)।

(२) भोजनके पदार्थ भी ब्रह्मरूप हैं—**'अहमेवाज्यम्'** (गीता ९ । १६) ।

(३) भोजन करनेवाला भी ब्रह्मरूप है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५ । ७) ।

(४) जठराग्नि भी ब्रह्मरूप है—**'अहम् वैश्वानरः'** (गीता १५ । १४) ।

(५) भोजन करनारूप क्रिया अर्थात् जठराग्निमें अन्नकी आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—**'अहम् हुतम्'** (गीता ९ । १६) ।

(६) इस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुषोंके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है—**'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्'** (गीता ४ । ३१) ।

मार्मिक बात

प्रकृतिके कार्य संसारका स्वरूप है—क्रिया और पदार्थ ! वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रकृति या संसार क्रियारूप ही है†; कारण कि पदार्थ एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता; उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । अतः वास्तवमें पदार्थ परिवर्तनरूप क्रियाका पुञ्ज ही है । केवल 'राग'के कारण पदार्थकी मुख्यता दीखती है । सम्पूर्ण क्रियाएँ अभावमें जा रही हैं । अतः संसार अभावरूप ही है । भावरूपसे केवल एक अक्रिय-तत्त्व परमात्मा ही है, जिसकी सत्तासे अभावरूप संसार भी सत्तावान् प्रतीत हो रहा है । संसारकी अभावरूपताको इस प्रकारसे समझ सकते हैं—

संसारकी तीन अवस्थाएँ दीखती हैं—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय; जैसे—वस्तु उत्पन्न होती है, फिर रहती है और अन्तमें नष्ट हो जाती है अथवा मनुष्य जन्म लेता है, फिर रहता है और अन्तमें मर जाता है । इससे आगे विचार करें तो केवल उत्पत्ति और प्रलयका ही क्रम है, स्थिति वस्तुतः है ही नहीं; जैसे—यदि मनुष्यकी पूरी आयु पचास वर्षकी है, तो

* क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (गीता १३।२) † प्रकर्षेण करणं प्रकृतिः । सम्यग्रीत्या सरतीति संसारः ।

बीस वर्ष बीतनेपर उसकी आयु तीस वर्ष ही रह जाती है। इससे आगे विचार करें तो केवल प्रलय-ही-प्रलय (नाश-ही-नाश) है, उत्पत्ति है ही नहीं; जैसे—आयुके जितने वर्ष बीत गये, उतने वर्ष मनुष्य मर ही गया। इस प्रकार मनुष्य प्रतिक्षण ही मर रहा है, उसका जीवन प्रतिक्षण ही मृत्युमें जा रहा है। इसीलिये वह 'मर्त्य' है*। दृश्यमात्र प्रतिक्षण अदृश्यमें जा रहा है। प्रलय अभावका ही नाम है, इसलिये अभाव ही शेष रहा। अभावकी सत्ता भावरूप परमात्म-तत्त्वपर ही टिकी हुई है। अतएव भावरूपसे एक परमात्मतत्त्व ही शेष रहा—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्य० ३ । १४ । १); **'वासुदेवः सर्वम्'**। (गीता ७ । १९)

श्लोक—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस श्लोकमें दो प्रकारके यज्ञोंका वर्णन है। एक यज्ञमें तो यज्ञकर्ता योगी अपने कहलानेवाले शरीरादि समस्त पदार्थोंको तथा क्रियाओंको सर्वथा भगवान्‌के अर्पित कर देता है। इस प्रकार पदार्थों और क्रियाओंसे अपना कोई सम्बन्ध न रहनेसे वह अर्पण-यज्ञ हो जाता है।

दूसरे यज्ञमें योगी विचाररूप यज्ञके द्वारा ही जीवात्मारूप यज्ञका ब्रह्मरूप अग्निमें हवन करते हैं अर्थात् संसारसे विमुख होकर अपने स्वरूपको ब्रह्ममें लीन कर देते हैं। इस प्रकार ब्रह्मसे भिन्न अपनी सत्ता न रहनेसे वह यज्ञ हो जाता है।

अन्वय—**अपरे, योगिनः, दैवम्, यज्ञम्, एव, पर्युपासते, अपरे, ब्रह्माग्नौ, यज्ञेन, एव, यज्ञम्, उपजुह्वति ॥ २५ ॥**

पद-व्याख्या—**अपरे योगिनः**—अन्य योगीलोग।

पिछले श्लोकमें सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप साधनका वर्णन करके अब भगवान् उससे भिन्न दूसरे साधनोंका वर्णन करते हैं।

पिछले श्लोकमें भगवान्‌ने सर्वत्र ब्रह्मदर्शनरूप यज्ञ करनेवाले साधकका वर्णन किया। यहाँ भगवान् **'अपरे'** पदसे उससे भिन्न प्रकारके यज्ञ करनेवाले साधकोंका वर्णन करते हैं।

यहाँ **'योगिनः'** पद यज्ञार्थ कर्म करनेवाले निष्काम साधकोंके लिये आया है।

दैवम् यज्ञम् एव पर्युपासते—भगवदर्पणरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान करते हैं।

सम्पूर्ण क्रियाओं तथा पदार्थोंको अपना और अपने लिये न मानकर उन्हें केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना 'दैवयज्ञ' अर्थात् भगवदर्पणरूप यज्ञ है। भगवान् देवोंके भी देव हैं, इसलिये सब कुछ उनके अर्पण कर देनेको ही यहाँ 'दैवयज्ञ' कहा गया है।

किसी भी क्रिया और पदार्थमें किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति, ममता और कामना न रखकर उन्हें सर्वथा भगवान्‌का मानना ही दैवयज्ञका भलीभाँति अनुष्ठान करना है।

अपरे—दूसरे (योगीलोग)।

प्रस्तुत श्लोकके पूर्वार्धमें बतलाये गये दैवयज्ञसे भिन्न दूसरे यज्ञका वर्णन करनेके लिये यहाँ **'अपरे'** पद आया है।

ब्रह्माग्नौ यज्ञेन एव यज्ञम् उपजुह्वति—ब्रह्मरूप अग्निमें विचाररूप यज्ञके द्वारा ही जीवात्मारूप यज्ञका हवन करते हैं।

चेतनका जड़से तादात्म्य होनेके कारण ही उसे जीवात्मा कहते हैं। विवेक-विचारपूर्वक जड़से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जानेको यहाँ यज्ञ कहा गया है। लीन होनेका तात्पर्य है—परमात्मतत्त्वसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता किञ्चिन्मात्र न रखना।

* 'मनुष्या मानवा मर्त्याः' (—अमरकोश)

श्रीमाँ शारदादेवी—नारियोंका पवित्र आदर्श

(लेखक—ओमूप्रकाशजी शर्मा)

[गतांक सं० ७ पृ०-संख्या ६९८ से आगे]

श्रीरामकृष्णका जीवन इतने ऊँचे सुरमें बँधा था कि उसके साथ सुर मिला सकना साधारण मनुष्यके लिये सर्वथा असम्भव था। त्यागमें, पवित्रतामें, उच्च आध्यात्मिक अनुभूतिमें—सभी कुछमें वे सर्वोच्च स्तरमें पहुँचे हुए थे जो साधारण मनुष्यकी पहुँचके सर्वथा परे था और निरन्तर भगवान्‌में ही वे अवस्थित रहते थे—उससे जरा भी नीचे नहीं उतर सकते थे। उनके जीवनमें एक तीव्र प्रकाश था, जो साधारण मानवकी आँखोंमें चकाचौंध पैदा कर देता था। इसलिये हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्णदेव अपने साथ इस प्रकारका एक जीवन (श्रीमाँ) लेकर आये थे जिसमें मनुष्योंको—जहाँतक उनकी पहुँच थी, वहाँतक—पूर्णता ही दिखायी देती थी। संन्यासी, गृही, बालक, बालिका, उच्च वर्ण, निम्न वर्ण, पवित्र-अपवित्र, अन्ध-अपङ्ग, सबल-दुर्बल—सभी उनको परम आत्मीय रूपमें—ठीक अन्तरङ्गके समान पा सकते थे।'

जयरामवाटीमें एक स्त्री-भक्तने, जो माँके कमरेमें ही सोती थी, उनको अर्धरात्रिको अपने पलँगपर मच्छरदानीके भीतर जप करते हुए देखा और सुबह होनेपर पूछा कि क्या उन्हें भी जो साक्षात् देवी स्वरूप हैं, इतने जप-ध्यान करनेकी आवश्यकता है? क्यों? व्यर्थ वे अपने शरीरको अत्यधिक कष्ट देती हैं, जबकि उनकी तो अवश्य ही बन गयी होगी। उनकी न बनेगी तो किसकी बनेगी। इसपर माँने उसे समझाया—'क्या करूँ बेटी! सब थोड़े ही मन्त्र-जाप करते होंगे। सो उनके लिये करती हूँ जिससे उनका कोई अमङ्गल न हो।' वास्तवमें (औपचारिक) गुरु-भावसे कहीं आगे मातृ-भाव है—इससे विदित होता है।

जयरामबाटीके जीवनकी ओर उस अमूल्य मातृ-भावकी एक महत्त्वपूर्ण झाँकी देते हुए माँकी ही एक संतान, संन्यासी जिनको उनके सांनिध्यका लाभ हुआ था—लिखते हैं—

'माँके भीतरके विश्व-मातृत्वके प्रकाशने सबको चमत्कृत कर दिया। संतानोंकी अकुण्ठ सेवामें श्रीमाँको कितनी तृप्ति और कितना आनन्द मिलता था! कुछ संन्यासी-भक्त भोजनादिके बाद अपने जूठे बर्तन स्वयं धोनेके लिये ले जा रहे थे। माँ रास्ता रोककर खड़ी हो गयीं। बोलीं—'नहीं, मैं ही ले जाऊँगी।' संन्यासी तो आश्चर्यचकित हो गये। 'यह क्या बात है। यह क्या! आपके लेनेसे तो मेरा बड़ा अकल्याण होगा'—कम्पित कण्ठसे साधुने कहा। उस समय माँ छलकती आँखोंसे बोलीं—'देखो, माँकी गोदमें बच्चे टट्टी-पेशाब भी कर देते हैं। मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकी हूँ बेटा!' संन्यासी सिर नीचा करके रह गये। उनकी आँखें धुँधली हो उठीं।

एक दिन माँने आमजदनामक एक व्यक्तिको, जो चोर, डाकूके रूपमें प्रसिद्ध था, अपने घरके बरामदेमें खानेके लिये बैठाया। उनकी भतीजी नलिनी परोस रही थी। उसे दूर-दूरसे फेंक-फेंककर परोसते देख माँने कहा—'इस प्रकार अवज्ञासे देनेपर मनुष्यको खानेमें क्या आनन्द आ सकता है? तुम ठीकसे परोस न सको तो मैं परोस देती हूँ।' आमजदके खानेके बाद माँने स्वयं उसका जूठा स्थान धो दिया। उसे देखकर—'ओ बुआ! तुम्हारी जात चली गयी' इस प्रकार कहते हुए नलिनी हल्ला मचाने लगी। माँने उसे डाँटकर कहा—'जिस प्रकार शरत् (स्वामी शारदानन्द) मेरी संतान है, उसी प्रकार आमजद भी है।' यह थी उनके मातृभावकी सहृदयता। वे माँ जो थीं! (समाप्त)

अमृत-बिन्दु

साधक उसीको कहते हैं, जो निरन्तर सावधान रहता है। इसलिये साधकको अपनी साधनाके प्रति सतर्क, जागरूक रहना चाहिये।

मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता, अपितु कर्मोंमें वह जो आसक्ति और स्वार्थभाव रखता है, उनसे ही बँधता है।

वर्तमान समयमें घरोंमें, समाजमें जो अशान्ति, कलह, संघर्ष देखनेमें आ रहा है, उसमें मूल कारण यही है कि लोग अपने अधिकारकी माँग तो करते हैं, पर अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते।

यह सिद्धान्त है कि जबतक मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, तबतक उसके कर्मकी समाप्ति नहीं होती और वह कर्मोंसे बँधता ही जाता है।

जबतक अपने लिये कुछ भी 'करने' और 'पाने' की इच्छा रहती है, तबतक नित्यप्राप्त परमात्म-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता।

मिलनेवाली प्रत्येक वस्तु बिछुड़नेवाली होती है, पर जो नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्व है, वह कभी किसी अवस्थामें भी नहीं बिछुड़ता, चाहे हमें उसका अनुभव हो अथवा न हो।

किसी भी कर्मके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह कर्म तुच्छ और बन्धनकारक हो जाता है।

मुझे सुख कैसे मिले?—केवल इसी चाहनाके कारण मनुष्य कर्त्तव्यच्युत और पतित हो जाता है।

जैसे माँका दूध उसके अपने लिये न होकर बच्चेके लिये ही है, वैसे ही मनुष्यके पास जितनी भी सामग्री है, वह उसके लिये न होकर दूसरोंके लिये ही है।

वास्तवमें मनुष्यजन्म ही सब जन्मोंका आदि तथा अन्तिम जन्म है। यदि मनुष्य परमात्मप्राप्ति कर ले तो अन्तिम जन्म भी यही है और परमात्मप्राप्ति न करे तो अनन्त जन्मोंका आदि जन्म भी यही है।

अपने लिये कर्म करनेसे एवं जड़ता-(शरीरादि-) के साथ अपना सम्बन्ध माननेसे सर्वव्यापी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधा (आड़) आ जाती है।

कोई भी कर्त्तव्य-कर्म छोटा या बड़ा नहीं होता। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा कर्म कर्त्तव्यमात्र समझकर (सेवाभावसे) करनेपर समान ही है।

'देने'के भावसे समाजमें एकता, प्रेम उत्पन्न होता है और 'लेने'के भावसे संघर्ष उत्पन्न होता है।

'देने'का भाव उद्धार करनेवाला और 'लेने'का भाव पतन करनेवाला होता है। शरीरको 'मैं', 'मेरा' अथवा 'मेरे लिये' माननेसे ही 'लेने'का भाव उत्पन्न होता है।

अपने-अपने स्थान या क्षेत्रमें जो पुरुष मुख्य कहलाते हैं, उन अध्यापक, व्याख्यानदाता, आचार्य, गुरु, नेता, शासक, महन्त, कथावाचक, पुजारी आदि सभीको अपने आचरणोंमें विशेष सावधानी रखनेकी अत्यधिक आवश्यकता है, जिससे दूसरोंपर उनका अच्छा प्रभाव पड़े।

जैसे भोगी पुरुषकी भोगोंमें, मोही पुरुषकी कुटुम्बमें और लोभी पुरुषकी धनमें रति होती है, वैसे ही श्रेष्ठ पुरुषकी प्राणिमात्रके हितमें रति होती है।

संसारमात्र परमात्माका है; परन्तु जीव भूलसे परमात्माकी वस्तुको अपनी मान लेता है और इसीलिये बन्धनमें पड़ जाता है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

तीर्थ-स्थानमें भगवान् मिलते हैं

घटना ११ मार्च, ८३ ई० की है। मैं जगन्नाथपुरी जानेके लिये लालायित था, लेकिन कोई साथी न मिलनेके कारण अकेले लम्बे सफरकी हिम्मत नहीं पड़ती थी। किंतु इच्छा दिन-प्रति-दिन प्रबल होती जा रही थी। अतः ईश्वरपर भरोसा रखकर मैं रामनामका जप करता हुआ जगदलपुरसे पुरीके लिये प्रस्थान कर दिया। रेलवेद्वारा दिन-रात सफर करता हुआ मार्गके चित्र-विचित्र दृश्य देखता तीसरे दिन दोपहरमें पुरी पहुँचा।

मेरे वास्ते जगन्नाथपुरी बिलकुल नयी जगह थी। मैं अकेला था। कुछ लोगोंसे पूछनेपर मालूम हुआ कि रेलवे-स्टेशनसे जगदीश स्वामीका मन्दिर लगभग ३ कि० मी० है। अतः मैंने पैदल चलना ही उचित समझा। पैदल यात्रा करते हुए मार्गमें मिलनेवाले व्यक्तियोंसे मन्दिरका रास्ता पूछते हुए चला जा रहा था; साथ ही यह सोचता था कि कहाँ रुकूँगा, क्या करूँगा। इन्हीं विचारोंमें मग्न भगवान्‌का नाम जपते हुए आगे बढ़ता जा रहा था, तभी एक चौराहा आ गया, जहाँसे कई रास्ते जाते थे। मैं विस्मित हो गया कि अब आगे किस रास्तेसे जाया जाय ? तभी एक छोटा विद्यार्थी आता हुआ मुझे दिखायी दिया। मैंने विद्यार्थीसे सम्पर्क किया तो विद्यार्थी बोला कि मुझे जगन्नाथजीके मन्दिर होकर ही जाना है। आओ मेरे साथ, मैं पहुँचा देता हूँ। पुरीमें उड़िया भाषा चलती है, अतः बहुतोंकी तो मैं बोली ही नहीं समझ पाता था। अब मार्गमें चलते हुए उस विद्यार्थीसे बात-चीतका सिलसिला चलाते पुरी-मार्गमें आगे बढ़ते जा रहे थे। मैं विद्यार्थीको पाकर हर्षित था।

उस अपरिचित छात्रने मेरी बड़ी सहायता की। मेरे ठहरनेके लिये उसने मेरे साथ जाकर कई धर्म-शालाओंमें पता लगाया तो यह मालूम हुआ कि कोई धर्मशाला खाली नहीं है। मुझे हर जगहसे निराश होना पड़ा। अन्तमें उस अपरिचित मित्रने मुझे अपने छात्रावासमें ले जाकर अपने कुछ मित्रोंसे मेरा परिचय कराया तथा उनसे मुझे वहाँ कुछ समय ठहरानेका अनुरोध किया। उसके मित्रोंने छात्रावासमें ठहरनेके लिये कोई आपत्ति नहीं की। मैं ३-४ दिनोंतक उसी छात्रावासमें ही उसी छात्र-मित्रके पास रुका। तीर्थक्षेत्रके भ्रमणमें भी उस विद्यार्थीका सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा। उसके माध्यमसे वहाँके और भी मेरे कई मित्र बन गये। अपनी यात्रा पूरी कर वापस मैं जगदलपुर आ गया। जगदलपुरसे मैंने उन सभी मित्रोंको पत्र लिखा, विशेष कर अपने उस प्रिय मित्र भुवनेश्वरको भी उसके बताये पतेपर कई पत्र दिये, पर आजतक मुझे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।

आज भी जब मुझे भगवान् जगन्नाथके दर्शनार्थ उस तीर्थयात्राका स्मरण आता है तो उस अपरिचित छात्रके कार्य-कलापोंमें श्रीजगदीश्वरकी महती कृपाके दर्शन होने लगते हैं ? यह अनुभव होता है कि तीर्थस्थानमें तीर्थ-यात्रियोंकी सहायता भगवान् स्वयं करते हैं।

—रामपाल तिवारी

(२)

संकट तें हनुमान छुड़ावै।
मन क्रम बचन ध्यान जो लावै ॥

मेरे मायकेके अधिकतर व्यक्ति नास्तिक हैं। इसका प्रभाव मेरे संस्कारोंपर भी पड़ा। विवाहके बाद ससुरालके सभी लोग 'भगवान् ही सब कुछ हैं' इस विचारके मिले। मेरे पति रसायन-विज्ञानके प्रोफेसर होते हुए भी हनुमान्जीके अनन्य भक्त हैं। पतिगृह पहुँचनेके कुछ ही समय बाद सासका स्वर्गवास हो जाने एवं घरमें एकमात्र बहू होनेसे घरकी पूजा आदिका कार्य तो मैं कर्त्तव्य समझकर सम्पन्न करती रही, परंतु अपने पूर्व-संस्कारोंके कारण मेरे अन्तःकरणने कभी भी भगवान्का अस्तित्व नहीं स्वीकारा। यह घटना २ दिसम्बर १९७९ ई० की है, जब हमारी पुत्रीका जन्म-काल बिलकुल निकट था। मैं उस समय पितृगृह अलीगढ़में थी। पति छिबरामऊसे कुशलक्षेम-हेतु मेरे पास गये हुए थे। बातचीतमें भगवान्का प्रसङ्ग छिड़ गया। न जाने कैसे उनके सामने मेरे अन्तःकरणकी नास्तिकता खुल गयी। मेरी नास्तिकतासे वे बड़े दुःखी हुए। 'भगवान् बजरंगबली ही तुम्हारा कल्याण करेंगे'—यह कहकर वे छिबरामऊ चले गये। उसी दिन शामको मुझे प्रसवपीड़ा शुरू हो गयी। रातमें ही पारिवारिक डाक्टर श्रीमती गुप्ताके नर्सिंग होममें मुझे तुरंत भर्ती कराया गया। रातमें ही न जाने कैसे मेरी हालत बहुत गम्भीर हो गयी। मेरे पास एकमात्र बड़ी बहन ही थी। पिताजी भी अलीगढ़से बाहर थे। डा० गुप्ता स्वयं अस्वस्थ थीं। तुरंत मेडिकल कालेजसे कुछ अन्य डाक्टर बुलाये गये। किसीकी समझमें कुछ नहीं आ रहा था। स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। सभी डाक्टर एक बड़ा आपरेशन करके मुझे बचानेके लिये विचार कर रहे थे। डाक्टरोंने तुरंत मेरे पतिको बुलानेके लिये ट्रंक-काल करनेको कहा। मैं भी अचेत होती जा रही थी और मेरा ध्यान पतिके वाक्य—'बजरंगबली ही तुम्हारा कल्याण करेंगे'—की ओर गया। मैंने जीजीको मना कर दिया कि 'उन्हें न बुलाया जाय, क्योंकि उनके भी संरक्षक हमारे पास अवश्य होंगे। मैंने बजरंगबलीका आर्त्तस्वरसे स्मरण करते हुए उनसे प्रार्थना की कि 'प्रभु मैं नास्तिक हूँ, परन्तु यदि मैं न रही तो तुम्हारे भक्तका क्या होगा! उनका जीवन भी तो मेरे न रहनेसे नष्ट-सा हो जायेगा। मुझे अपनी नास्तिकतापर सचमुच बड़ा पश्चात्ताप है।' प्रार्थना करते ही एक चमत्कार-सा हुआ। मैंने देखा कि प्रभु अञ्जनीकुमार एक हाथमें गदा लिये एवं दूसरा हाथ अभयदानकी मुद्रामें उठाये हुए मेरे सामने खड़े हैं। यह दृश्य लगभग तीन घंटेतक रहा। मेरे आँसू बहते रहे। भगवान् खड़े रहे। डाक्टरोंके आश्चर्यका भी पार न था; क्योंकि उनके अनुसार स्थिति एकदम सामान्य हो गयी थी। बिना किसी उपचारके लगभग तीन घंटेमें जब हमारी नवजात कन्याके रुदनसे आपरेशन थियेटर गूँजने लगा, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये। जब मैंने भगवान्को लाख-लाख धन्यवाद देते हुए यह घटना डाक्टरोंको सुनायी तो वे लोग भी प्रभु बजरंगबलीके इस चमत्कारसे बड़े प्रभावित हुए। तबसे मैं अपने पतिकी भाँति ही बजरंगबलीकी भक्त हूँ। वस्तुतः यह उनकी ही कृपा थी कि मेरा जीवन, जिसे डाक्टर भी असम्भव मान रहे थे, बिना किसी उपचारके आज हमारी पुत्री ऋचाकी किलकारियोंसे गूँज रहा है।

—श्रीमती मालती मिश्र

मनन करनेयोग्य

(१)

त्यागी कौन ?

बहुत बड़े धनी और विद्वान् जमींदारकी एक बार किसी महात्मासे भेंट हो गयी । महात्मा बड़े त्यागी थे । जमींदारने उन्हें एक लँगोटीका कपड़ा देना चाहा, परंतु उन्होंने आवश्यकता न होनेसे स्वीकार नहीं किया । कुछ समयतक साधु-संग करनेपर जमींदारके मनमें भी वैराग्यका भाव आया और उसे त्यागकी महत्ता दिखायी दी । इसपर उसने महात्मासे कहा—'स्वामीजी महाराज ! आपको और आपके त्यागको धन्य है !'

महात्माने बहुत विनयके साथ मधुर शब्दोंमें कहा—'भाई ! बेसमझ लोग मुझे भले ही त्यागी कहकर मेरी प्रशंसा करें, असलमें मैं तो बड़ा ही स्वार्थी हूँ । तुम्हारे-सरीखा सुशिक्षित पुरुष मुझे त्यागी कैसे बता सकता है ? मैं तो सदा रहनेवाले सर्वोपरि अमूल्य धनकी चाह करता हूँ और उसके लिये मैंने नगण्य विनाशी वस्तुओंको छोड़ा है । वस्तुतः त्यागी तो तुम हो जो उस असली धनकी बात जाननेपर भी उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते ।'

(२)

अभिमान

एक बड़े लेखक पहरभर रात रहते ही उठकर समालोचना लिखा करते । एक दिन उनके पिताजीने पास आकर उनकी प्रशंसा की । उसे सुनकर वे गर्वसे फूल गये और बोले कि 'आपके दूसरे लड़के तो अबतक नींदमें ही पड़े सो रहे हैं, वे भी मेरी तरहसे किया करें तो उनकी भी इज्जत हो ।' पिताने उदास होकर कहा—'बेटा ! रातके तीसरे पहर जगकर इस प्रकार अपनी शेखी बघारने और दूसरोंकी निन्दा करनेकी अपेक्षा तो गहरी नींदमें सो रहना ही अच्छा है ।'

(३)

विवेक

उन दिनों इंग्लैंडमें लोग तलवार बाँधे घूमा करते थे । द्वन्द्व-युद्धसे इनकार करना वहाँ बहुत बड़ी कायरता समझी जाती थी । एक दिन किसी नवयुवकने बहादुरीका बीड़ा उठाकर महारानी एलिजाबेथके विशेष सम्मानपात्र सर वाल्टर रेलेको द्वन्द्व-युद्धके लिये ललकारा । सर वाल्टर रेलेने अस्वीकार कर दिया । तब उस असभ्य नवयुवकने निन्दा करके उनके मुँहपर थूक दिया ! तलवार चलानेमें अत्यन्त निपुण सर वाल्टर रेलेने इस प्रकार अपमानित होनेपर भी धीरजके साथ कहा—'मैं अपने मुँहपर रूमाल फिराकर जिस आसानीसे तुम्हारा थूक पोंछ सकता हूँ, उतनी ही आसानीसे तुम्हारी छातीमें लगे हुए तलवारके घावको पोंछ सकता हूँ अथवा बिना कारण ही नर-हत्या करनेके पापसे बचनेका कोई उपाय होता तो मैं अभी तुम्हारे साथ तलवार लेकर लड़नेको तैयार हो जाता ।'

सौन्दर्य-माधुरी

×××××मनकी सौन्दर्य-लालसाको दबाइये मत, उसे खूब बढ़ने दीजिये; परंतु उसे लगानेकी चेष्टा कीजिये परम सुन्दरतम पदार्थमें। जो सौन्दर्यका परम अपरिमित निधि है, जिस सौन्दर्य-समुद्रके एक नन्हेंसे कणको पाकर प्रकृति अभिमानके मारे फूल रही है तथा नित्य नये-नये असंख्य रूप धर-धरकर प्रकट होती है और विश्वको विमुग्ध करती रहती है—आकाशका अप्रतिम सौन्दर्य, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुका सुख-स्पर्श-सौन्दर्य, अग्नि-जल, पृथ्वीका विचित्र सौन्दर्य, अनन्त सुगन्धित पुष्पोंके विविध वर्ण और सौरभका सौन्दर्य, विभिन्न पक्षियोंके रंग-बिरंगे सुखकर स्वरूप और उनकी मधुर काकलीका सौन्दर्य, बालकोंकी हृदयहारिणी माधुरी, ललनाओंका ललित लावण्य तथा माता-पत्नी-मित्र आदिका मधुर स्नेह-सौन्दर्य—ये सभी एक साथ मिलकर भी जिस सौन्दर्य-सुधासागरके एक क्षुद्र सीकरकी भी समता नहीं कर सकते, उस सौन्दर्यराशिको खोजिये। उसीके दर्शनकी लालसा जगाइये, सारे अंगोंमें जगाइये। आपकी बुद्धि, आपका चित्त-मन, आपकी सारी इन्द्रियाँ, आपके शरीरके समस्त अंग-अवयव, आपका रोम-रोम उसके सुषमा-सौन्दर्यके लिये व्याकुल हो उठे। बस, यह कीजिये। फिर देखिये, आपकी सौन्दर्य-लालसा आपको किस चिन्मय दिव्य सौन्दर्य-साम्राज्यमें ले जाती है। अहा, यदि आपको एक बार उसकी जरा-सी झाँकी भी हो गयी तो आप निहाल हो जाइयेगा। फिर सौन्दर्य-लालसा मिटानी नहीं होगी, वह अमर हो जायगी और इतनी बढ़ेगी, इतनी बढ़ेगी कि मुक्ति-सुख भी भूलकर स्वयं जीती-जागती बनी रहेगी और आप फिर उस सौन्दर्य-समुद्रमें नित्य डूबते-उतराते रहेंगे। वह ऐसा सौन्दर्य है कि जिसे दिन-रात अनन्त कालतक अविरत देखते रहनेपर भी तृप्ति नहीं होती, दर्शनकी प्यास कभी मिटती नहीं—'अँखियाँ हरि दर्शन की प्यासी' ही बनी रहती हैं। प्यासके बुझनेकी तो कल्पना ही नहीं, वरं ईंधनयुक्त घृतकी आहुतिसे बढ़ती हुई अग्निकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वह अनन्तकी ओर अग्रसर होती रहती है। पर यह प्यास, यह दर्शनकी बढ़ी हुई लालसा दर्शनसे भी अधिक सुखदायिनी होती है।

यह वह सौन्दर्य है जिसे देखकर मुनियोंके मरे हुए मनोंमें भी जीवनका सञ्चार हो जाता है।

इस रूप-माधुरीका जिसने पान किया, वही इस रसको जानता है। दूसरोंको क्या पता !!

कहते हैं, मुसल्मान भक्त रसखान किसी स्त्रीपर आसक्त थे। पर वह बहुत मानिनी थी, बारंबार इनका तिरस्कार किया करती थी। एक बार इन्होंने कहीं श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन आनन्दकन्द मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका मनोहर चित्र देख लिया और उसी क्षण उनपर मोहित हो गये। लोगोंसे पूछा—'यह साँवरी सूरतवाला मेरा चितचोर कहाँ रहता है और इसका क्या नाम है?' बताया गया—यह श्रीवृन्दावनधाममें रहता है और इसका नाम है "रसखानि"। बस, यह उसी समय उन्मत्तसे होकर वृन्दावन पहुँच गये और उत्कट एवं अनन्य दर्शन-लालसाके फलस्वरूप गो-गोप-गोपी-परिवेष्टित ×××××निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रससुधा-सार-सर्वस्व परमानन्दघन व्रजचन्दके मन्मथ-मन्मथरूपके दर्शन पाकर सदाके लिये उन्हींपर न्योछावर हो गये। वे कहते हैं—

मोहन छबि रसखानि लखि, अब दृग अपने नाहिं।
ऐंचे आवत धनुष-से, छूटे सर-से जाहिं॥

या छबि पै रसखानि अब वारौं कोटि मनोज।
जाकी उपमा कबिन नहिं पाई, रहे सु खोज॥
मोहन, सुन्दर स्याम कौ देख्यो रूप अपार।
हिय-जिय-नैननि में बस्यौ वह ब्रजराजकुमार॥
मो मन मानिक लै गयो चितै चोर नँद-नंद।
अब बे-मन मैं का करूँ परी फेर के फंद॥

रसखान स्वयं तो रसखानिके रस-सौन्दर्यपर मोहित थे ही। वे उस अनिवार्य मोहिनीकी महिमा गाते हुए पुकार-पुकारकर समस्त ब्रजजनोंको सावधान कर रहे हैं—

कानन दै अँगुरी रहियो
जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहिनी तानन सौं रसखानि
अटा चढ़ि गो-धन गैहै तो गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि
काल्हि कोऊ कितनी समुझैहै।
माई री वा मुख की मुसकानि
सम्हारि न जैहै न जैहै न जैहै॥

बस, उस मदनमोहन श्यामसुन्दरकी सौन्दर्य-माधुरीकी लालसा हृदयमें जगाइये और कृतार्थ हो जाइये।

श्रीहनुमत-कृपा

मुझे सन् १९२५ ई०में एक परमज्ञानी और साधनामें लवलीन पं०श्रीमेवारामजीका सत्सङ्ग प्राप्त हुआ। तब मैं मात्र १५ वर्षका था। पं०मेवारामजीने कहा—'यदि हनुमान्‌जीका अनुष्ठान किया जाय तो शनिकी दशाका प्रकोप नष्ट हो जायगा।' मैंने हनुमान्‌जीका अनुष्ठान करना स्वीकार किया। पं०जीने विधि बता दी कि—'एक सौ पाठ हनुमान्-चालीसाके नित्य करो और चालीस दिन ऐसे पाठ करनेसे एक अनुष्ठान हो जायगा। इससे सब दुःख दूर हो जायँगे। हनुमान्‌जी या तो प्रकट होकर दर्शन देंगे या और किसी रूपमें कृपा करेंगे।'

मैंने होस्टलमें एकान्त कमरेमें रहते हुए चालीस दिनका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया। सौ पाठ रोज करता। पाठ करते-करते मनमें बड़ी शान्ति, प्रसन्नता और शक्ति उत्पन्न हो रही थी। किंतु सत्ताईस दिन ही इस प्रकार पाठ हो पाया कि एक बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ। मैं बीमार पड़ गया। अनुष्ठानके समय मैं एक ही समय भोजन करता तथा भूमिपर शयन करता था। बीमारी इतनी बढ़ी कि बचनेकी आशा न रही। पर उसी बीमारीमें श्रीहनुमान्‌जीने स्वप्नमें साक्षात् दर्शन देकर कहा—'तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। तुम्हारे पिताजीकी शनि दशाका सब कष्ट नष्ट हो जायगा। किंतु हमारी मूर्ति धारण करो। शौच और स्नानके समय उतार कर रख देना। पूजाके समय जब भुजापर बाँध लिया करोगे तो तुमको कोई विघ्न न होगा।' श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे कष्टका शीघ्र ही निवारण हुआ और मैंने अपनी दाईं भुजापर मूर्ति अङ्कित करा ली।

इसी प्रकार हनुमत्कृपासे टेहरीके मार्गमें तथा प्रदोष कालमें ऋषिकेशके पास बीहड़ जंगलमें हनुमत्स्तोत्रका पाठ करते ही एक ब्रह्मचारीके रूपमें सहायता एवं मार्गनिर्देशन प्राप्त हुआ।

—भक्त जयसियारामजी

चातुर्मास्यगत भाद्रपदमासका माहात्म्य

चैत्रादि मासों एवं चातुर्मास्य-माहात्म्यपर कई बड़े श्रेष्ठ, सात्त्विक स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। उनमें जिस प्रकार भगवान्‌की रम्य कथाएँ, श्रेष्ठ सूक्तियाँ, जप-तपादि साधनों एवं व्रतोत्सवोंके उल्लेख हैं वैसा अन्य धर्मोंमें कहीं नहीं है। श्रावणमास-माहात्म्यमें शिवोपासना, शनिव्रत आदिके चमत्कारिक वर्णन हैं। वस्तुतः इनके अनुष्ठानसे अपार लाभ होता है। चातुर्मास्य एवं भाद्रपद-माहात्म्यके अनुसार श्रावणमें पत्तेवाले शाक और भाद्रपदमें दधि त्याज्य है। इनके त्यागसे आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक लाभ होते हैं।

भाद्रपदके कृष्णपक्षमें अशून्यशयन-द्वितीया, बहुलाचतुर्थी, हलषष्ठी, भानुसप्तमी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, जया एकादशी, कुशोत्पाटिनी अमावास्या एवं शुक्लपक्षमें वामनजयन्ती, सामवेदियोंका उपाकर्म, हरितालिका, ऋषिपञ्चमी, लोलार्क षष्ठी, अपराजिता सप्तमी, श्रीराधाष्टमी, दशावतार दशमी, पद्मा एकादशी और अनन्त चतुर्दशी आदि मुख्य व्रतोत्सव होते हैं। श्रीकृष्णजन्माष्टमीकी महिमामें कहा गया है कि जिस राज्य या देशमें यह व्रत विधिपूर्वक मनाया जाता है तथा यन्त्रादिसहित वस्त्र या ताम्रादि पत्रोंपर चित्र एवं अलंकार-रचनापूर्वक सभी उपचारोंसे देवकीसहित भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा होती है, वहाँपर चक्रभय (अन्य राष्ट्र या राज्यसे आक्रमणका भय), अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ईति (शलभ-मूषकादि)का भय नहीं होता और मेघ यथेष्ट वृष्टि करते हैं—

परचक्रभयं तत्र न कदापि भवेत् पुनः। पर्जन्यः कामवर्षी स्यादीतिभ्यो न भयं भवेत् ॥

(भविष्यपुराण, भाद्रपद- जन्माष्टमी-व्रतमाहा० ७६ । ७७)

व्यक्तिगतरूपसे भी श्रीकृष्ण-पूजा करनेवालोंके घरोंमें भी रोगादि उपसर्ग नहीं होते एवं पशु, पाप, व्याल, विष, चोर, राजादिका भी भय नहीं होता—

जन्माष्टमीं जनमनोनयनाभिरामां पापापहां सपदि नन्दितगोपगोपाम्।
यो देवकीं सुतयुतां च यजेद्धि भक्त्या पुत्रानवाप्य समुपैति पदं स विष्णोः ॥

(वही ७२।७३ तथा ८०)

इस व्रतके आचरणसे सत्यजित् आदि अनेक राजाओंका प्रेतयोनि आदिके क्लेशोंसे उद्धार हुआ है।

व्रतके दिन उपवास रखकर सपरिकर भगवान्‌की पाद्य, अर्घ्य, स्नान, चन्दन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि षोडशोपचारयुक्त पूजा करनी चाहिये तथा रात्रिजागरण, स्तुति, श्रीमद्भागवत-कथा-कीर्तन एवं उत्सव कर दूसरे दिन प्रातः भगवान् श्रीकृष्णके द्वादशाक्षर वासुदेव-मन्त्रकी आहुतियोंसे हवन एवं पूर्णाहुति कर पारणा करनी चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण एवं महाशक्ति श्रीराधा दोनोंकी जन्मतिथियोंसे संयुक्त होनेसे वैष्णवोंके लिये यह महा-महोत्सवका समय होता है। इसमें वे व्रती उनके जन्मोत्सव, दधिकर्दमोत्सवसे लेकर षष्ठीपर्यन्तके उत्सवमें रत रहकर उनके दिव्यचरितका श्रवण-मनन-कीर्तन करते रहते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं पूर्ण भगवान् हैं। गीताके अनुसार सब कुछ वासुदेव विज्ञानमय, शान्त, शिव हैं। उनके ध्यानादिमें सदा स्थित रहनेसे ही आत्मोपलब्धि एवं जीवनके अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्ति होती है।—जा० श०

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

ब्रह्माजीके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥
अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥
ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥
श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । १४ । १–५)

ब्रह्माजी बोले—‘प्रभो ! एकमात्र आप ही स्तुति करनेयोग्य हैं । मैं आपके चरणोंमें नमस्कारपूर्वक प्रार्थना करता हूँ । आपका यह शरीर वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल है, इसपर स्थिर बिजलीके समान झिलमिल-झिलमिल करता हुआ पीताम्बर शोभा पाता है, आपके गलेमें घुँघुचीकी माला, कानोंमें मकराकृत कुण्डल तथा सिरपर मोरपंखोंका मुकुट है, इन सबकी कान्तिसे आपके मुखपर अनोखी छटा छिटक रही है । वक्षःस्थलपर लटकती हुई वनमाला और नन्हीं-सी हथेलीपर दही-भातका कौर, बगलमें बेंत और सींग तथा कमरकी फेंटमें आपकी पहचान बतानेवाली बाँसुरी शोभा पा रही है । आपके कमल-से सुकोमल परम सुकुमार चरण और यह गोपाल-बालकका सुमधुर वेष । (मैं और कुछ नहीं जानता, बस, मैं तो इन्हीं चरणोंपर निछावर हूँ ।) स्वयम्प्रकाश परमात्मन् ! आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनोंकी लालसा-अभिलाषा पूर्ण करनेवाला है । यह आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप मुझपर आपका साक्षात् कृपा-प्रसाद है । मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है । कौन कहता है कि यह पञ्चभूतोंकी रचना है ? प्रभो ! यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है । मैं या और कोई समाधि लगाकर भी आपके इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता । फिर आत्मानन्दानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी ही महिमाको तो कोई एकाग्र मनसे भी कैसे जान सकता है । प्रभो ! जो लोग ज्ञानके लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रहकर केवल सत्सङ्ग करते हैं और आपके प्रेमी संत पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाका जो उन लोगोंके पास रहनेसे अपने-आप सुननेको मिलती है, शरीर, वाणी और मनसे विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँतक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो ! यद्यपि आपपर त्रिलोकीमें कोई कभी विजय नहीं प्राप्त कर सकता, फिर भी वे आपपर विजय प्राप्त कर लेते हैं, आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं । भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्रोत—उद्गम है । जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस, क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं । हे अच्युत ! इस लोकमें पहले भी बहुत-से योगी हो गये हैं । जब उन्हें योगादिके द्वारा आपकी प्राप्ति न हुई, तब उन्होंने अपने लौकिक और वैदिक समस्त कर्म आपके चरणोंमें समर्पित कर दिये । उन समर्पित कर्मोंसे तथा आपकी लीला-कथासे [illegible] आपकी भक्ति प्राप्त हुई । उस भक्तिसे ही आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने बड़ी सुगमतासे आपके परमपदकी प्राप्ति कर ली ।’